

ISSN 2277-5587

Shodh Shree

(Journal of Multidisciplinary Research)

शोध श्री

Volume - VIII July- September 2013 RNI No. RAJHIN / 2011 / 40531



CHIEF EDITOR
Virendra Sharma

EDITOR
Dr. Ravindra Tailor

shodhshree@gmail.com

Shodh Shree

(Journal of Multidisciplinary Research)

Virendra Sharma
Chief Editor
Head of Department (History)
Government P.G. College, Bundi

Dr.Ravindra Tailor
Editor
Shodh Shree,
Jaipur

Editorial Board

Prof.H.S.Sharma (Retd.)
University Of Rajasthan, Jaipur

Prof.T.K.Mathur (Retd.)
M.D.S. University, Ajmer

Sarah Eloy
Museum The House of Alijn, Belgium

Dr.Rajesh Choudhary
Assistant Director (Research)
Indian Council of Historical Research, NewDelhi

Dr.Mahesh Narayan
Archivist (Retd.)
National Archives of India, NewDelhi

Dr.Pankaj Gupta
Government P.G. College, Kotputli

Advisory Board

Prof.S.P.Vyas
Jainarayan Vyas University, Jodhpur

Prof.S.N.Tailor (Retd.)
S.D. Government P.G. College, Beawar

Shri OmPrakash Sharma "Kukki"
International Renowned Archeologist and Explorer of Cave Paintings, Bundi

शोध श्री

Volume VIII

July-September 2013

1. रांगेय राघव की कहानियों में अंकित ऐतिहासिकता
डॉ. पद्मा शर्मा, शिवपुरी (मध्य प्रदेश) 01
2. सूचना तकनीकी का विकास और वर्तमान स्थिति
(ग्वालियर जिले के विशेष संदर्भ में)
डॉ. वसुधा अप्रवाल, ग्वालियर (मध्य प्रदेश) 05
3. प्राचीन भारत में कन्याओं की विवाह योग्य आयु
(वैदिक काल से पूर्व मध्यकाल तक)
प्रशान्त कश्यप, वाराणसी (उत्तर प्रदेश) 09
4. साठोत्तर महिला उपन्यास : नारी विद्रोह के स्वर
डॉ. सुमन कँवर, जयपुर 12
5. पण्डित मदन मोहन मालवीय : प्रभु मेरो धर्म न जाये
रश्मि श्रीवास्तव, वाराणसी (उत्तर प्रदेश) 15
6. संस्कार एवं उसकी मनोवैज्ञानिकता
डॉ. अरुणा, बादमेर 18
7. संस्कृत साहित्य में सामाजिक समरसता के स्वर
संजीव कुमार लवानिया, कु. ऋतु दीक्षित, आगरा (उत्तर प्रदेश) 23
8. महाभारत के अनुशासन पर्व में धर्म एवं दान की महत्ता
डॉ. भावना जैन, शिवपुरी (मध्य प्रदेश) 26
9. अलवर राज्य के सिक्के
डा. अंशुल शर्मा, जयपुर 30
10. राजस्थान में वन एवं वन्य जीव संरक्षण में स्थानीय राजाओं के प्रयास
डॉ. एम. एल. शर्मा, मीना नरुका, ब्यावर 34
11. गांधी चिन्तन में सामाजिक संगठन
प्रताप सिंह चौधू, जयपुर 37
12. मिड डे मील के उभरते हुये खतरों का विकल्प "कला शिक्षा"
डा. झाबर मल्ल वर्मा, जयपुर 40
13. पंचायती राज : महिलाओं की सहभागिता चुनौतियाँ एवं निदान
डॉ. अकीला आजाद, कोटा 43
14. राष्ट्रीय एकीकरण की चुनौतियाँ : आर्थिक विकास के संदर्भ में एक अध्ययन
डॉ. प्रेमलता परसोया, कोटा 48
15. 'समय के निष्कर्ष पर कुंदन सी दमकती तुलसी की सृजनात्मकता'
डॉ. रेखा गुप्ता, जयपुर 52

16.	Role of Teacher Educator in Improving Quality in Teacher Education Ramesh Kumar Awasthi, Reeba Devi, Meerut (Uttar Pradesh)	55
17.	Emerging Technologies in Higher Education Md. Afroz Alam, Hyderabad (Andra Pradesh)	58
18.	Dyscalculia: How We Can Deal? Dr. Vandana Goswami, Girija Rautela, Tonk	64
19.	Relation of Parental Encouragement with The Attitude of Higher Secondary Students Hemlata Dhami, Almora (Uttara Khand)	68
20.	Social and Realistic Conditions: A Critique of Bhabani Bhattacharya's So Many Hungers! Dr. Sita Agarwal, Gwalior (Madhya Pradesh)	71
21.	Police Training: The Emerging Trend Ms. Bhavana Rani, Kurukshetra (Haryana)	75
22.	Parliamentary Committee System as a Mini-Parliament Dr. Prem Singh, Lecturer, Alwar	79
23.	History of Madhya Pradesh Dr. Shukla Ojha, Gwalior (Madhya Pradesh)	83
24.	Madhya Pradesh Budget: 2013-2014 Dr. Praveen Ojha, Gwalior (Madhya Pradesh)	86
25.	Green Banking: An Effective tool for Sustainable Development Dr. Ruchi Jain, Jaipur	89
26.	Going Green: in Banking Sector Dr Meenakshi Anand, Jaipur	93
27.	Organizational Behaviour: A Conceptual Review Dr. Om Prakash Sharma, Deedwana	97
28.	Origin of Information and Types Kumkum Rajawat, Jaipur	101
29.	Social Networks Theory of Cyberterrorism Prem Chand, Kurukshetra (Haryana)	105



रांगेय राघव की कहानियों में अंकित ऐतिहासिकता

डॉ पद्मा शर्मा (हिन्दी विभाग)

शा. श्रीमंत माधवराव सिंधिया

स्नातकोत्तर महाविद्यालय, शिवपुरी (मध्य प्रदेश)

शाब्दिक दृष्टि से 'इतिहास' का अर्थ है 'ऐसा ही या ऐसा ही हुआ'। इतिहास का संबंध अतीत से है और इसके अन्तर्गत केवल वास्तविक या यथार्थ घटनाओं का ही समावेश किया जाता है। इसमें उन सभी लिखित या मौखिक वृत्तों को सम्मिलित किया जाता है, जिनका संबंध अतीत की यथार्थ परिस्थितियों व घटनाओं से है और साथ ही, उसका संबंध केवल 'प्रसिद्ध घटनाओं' से ही नहीं, अपितु उन घटनाओं से भी है, जो प्रसिद्ध न होते हुए भी यथार्थ में घटित हुई हों। वस्तुतः आज इतिहास शब्द को इतने व्यापक अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है कि उसके अंतर्गत, अतीत की प्रत्येक स्थिति, परिस्थिति, घटना, प्रक्रिया एवं प्रवृत्ति की व्याख्या का समावेश हो जाता है।¹

इतिहास के प्रति भारतीय दृष्टिकोण प्रायः आदर्शमूलक एवं अध्यात्मवादी रहा है, इसलिए उसमें भौतिक जग की स्थूल घटनाओं में भी आध्यात्मिक तत्त्वों व प्रवृत्तियों के अनुसंधान की प्रवृत्ति रही है। भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति में प्रायः सामयिक तत्त्वों की अपेक्षा चिरन्तन मूल्यों को अधिक महत्व दिया जाता रहा है। पाश्चात्य दृष्टिकोण में इतिहास के प्रथम व्याख्याता यूनानी विद्वान् हिरोदोटस ने इतिहास को खोज, गवेषणा या अनुसंधान के अर्थ में ग्रहण करते हुए चार लक्षण निर्धारित किए— आलोचनात्मक, मानविकी, प्रमाण पर आधारित और शिक्षाप्रद।²

साहित्यकार युग से असंपृक्त रहकर साहित्य सृजन नहीं कर सकता। वह चतुर्दिक व्याप्त घटित घटनाओं और उनमें सलिल व्यक्तियों से प्रेरित होकर ही साहित्य—सृजन करता है। रांगेय राघव ने लेखक तथा सामान्य व्यक्ति की उभय दृष्टि से युग को देखा है। " . . . प्रेरणा कैसे हुई का पृष्ठ लिखना अत्यन्त दुरूह है . . ."³

युग दृष्टा एवं युग—सृष्टा साहित्यकार के लिये अतीत के विशिष्ट पृष्ठों को खोलकर समाज को जागरूकता की ओर उन्मुख करना उसका दायित्व होता है। रांगेय राघव की कहानियों में भारतीय इतिहास, प्रागैतिहासिक काल से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी तक की प्रसिद्ध ऐतिहासिक घटनाओं, व्यक्तियों, तथ्यों आदि का चित्रण मिलता है। उन्होंने ऐतिहासिक पात्रों को भी तब ही लिया जब जीवन में उसका कोई प्रतिरूप किसी न किसी अंश में मिल गया।⁴

रांगेय राघव की कहानियों में भारतीय ऐतिहासिक काल प्रागैतिहासिक काल से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी तक की प्रसिद्ध घटनाओं, व्यक्तियों तथ्यों एवं स्थलों का चित्रण मिलता है। उनकी कहानियों में अंकित ऐतिहासिक पक्ष को निम्नलिखित बिन्दुओं में स्पष्ट किया गया है—

- 1 ऐतिहासिक यथार्थवाद
- 2 ऐतिहासिक युद्ध अथवा आक्रमण
- 3 इतिहास एवं कल्पना का समन्वय
- 4 ऐतिहासिक कथानक

5 ऐतिहासिक देशकाल और वातावरण

6 ऐतिहासिक पात्र

7 ऐतिहासिक भाषा एवं शैली

8 आकृति एवं वेषभूषा

9 ऐतिहासिक शीर्षक

- 1 ऐतिहासिक यथार्थवाद:— इतिहास तिथियों, घटनाओं तथा परिमाणों का ठीक-ठीक वर्णन उपस्थित करता है परन्तु ऐतिहासिक यथार्थ में घटना एवं तिथियों की सत्यता एवं प्रामाणिकता पर महत्व न देकर उनसे मिलने वाली प्रेरणा पर महत्व दिया जाता है। इसके द्वारा साहित्यकार ऐसे चरित्रों का निर्माण करता है जो वर्तमान समाज को प्रेरणा प्रदान कर सके। रांगेय राघव की कुछ कहानियों में ऐतिहासिक यथार्थवाद का चित्रण है। उन्होंने ऐतिहासिक घटनाओं एवं तिथियों की सत्यता की अपेक्षा उनसे मिलने वाली प्रेरणा पर महत्व दिया है।

‘चकाबू का किला’ कहानी में गुलाम स्त्रियों एवं स्त्रियों पर होने वाले अन्यायों का वर्णन है। ‘गुलाम सुल्तान’ में संकेत है कि तुगरिल खाँ को बल्वन ने फांसी की सजा दी थी जबकि ऐतिहासिक तथ्यानुसार उसका वध किया गया था।⁵

बौद्ध धर्म पर आधारित ‘अनुवर्तिनी’ कहानी में भिक्षु आनन्द को दस वर्ष की अवस्था में ही भिक्षु बता दिया गया था और संघ को दान कर दिया गया था जबकि इतिहास में उल्लेख मिलता है कि “...पन्द्रह वर्ष से अधिक की आयु का कोई भी व्यक्ति सदस्य हो सकता था।”⁶ कहानी ‘देवदासी’ में लिखा है कि “तीन सौ वर्ष पहले सातवाहनों के अन्त पर सम्राट् विष्णुगोप ने पल्लव साम्राज्य को स्वतंत्र कर दिया था।”⁷ इसके विपरीत इतिहास के अनुसार—“चौथी सदी में पल्लव राज्य का प्रसिद्ध राजा विष्णुगोप था, जिसे समुद्रगुप्त ने परास्त किया था।”⁸

अब यहाँ यह प्रश्न उठता है कि जब पल्लव राजा स्वयं विष्णुगोप था तब कहानी के तथ्यानुसार उसने पल्लव साम्राज्य को कैसे स्वतंत्र किया होगा। दूसरी ओर उस समय तक पल्लव किसी अन्य शक्ति के अधीन भी नहीं थे, जिससे सम्राट् विष्णुगोप पल्लव साम्राज्य को स्वतंत्र करा पाते।

अतः इन कहानियों की रचना नारी-परतंत्रता और अत्याचार(चकाबू का किला), सुल्तान की बुद्धिमत्ता (गुलाम सुल्तान), बौद्ध संघ में प्रविष्ट अनाचार (अनुवर्तिनी) तथा देवदासी के घोषण आदि का वर्णन प्रस्तुत करना ही लेखक का ध्येय रहा है।

- 2 ऐतिहासिक युद्ध अथवा आक्रमण:— आक्रमण राज्य को प्रस्थापित और विस्तृत करने के लिए आवश्यक होते हैं। रांगेय राघव की कहानियों में अकित युद्ध अथवा आक्रमण को निम्नांकित प्रकार से विभाजित किया है:—

अ— भारत में हुए आक्रमण

ब— विदेशों में हुए आक्रमण

- अ भारत में हुए आक्रमण—‘अमरता एक क्षण’ कहानी में आर्यों के द्राविड़ों पर आक्रमण की घटना को आधार बनाया गया है। ‘अनुवर्तिनी’ कहानी में यवनों के भारत पर आक्रमण, ‘अंगारों की चमक’ कहानी में पुर्तगालियों के गोवा पर आक्रमण, ‘पतों की पीढ़ा’ में निशाद जाति का नाम जाति पर आक्रमण की घटना है। इसके अतिरिक्त देवता असुर युद्ध को ‘कार्तिकेय’ कहानी में लिया गया है।

- ब विदेशों आक्रमण में हुए—‘अधूरी मूरत’ में अमेरिका की आजादी, ‘अवसाद का क्षण’ में वर्मा युद्ध, ‘काई’ कहानी में हितलर का आस्ट्रिया पर आक्रमण, तथा ‘रेडियो की दुकान’ कहानी में द्वितीय युद्ध का वर्णन किया है।⁹

इतिहास एवं कल्पना का समन्वय— कहानीकार जब ऐतिहासिक संदर्भों पर कहानी लिखता है तो कल्पना उसके लिए वरदान सिद्ध होती है। जब इतिहास की गति समझ में नहीं आती तब कहानीकार अनेक माध्यमों से इतिहास की गति को समझते हुए, चरित्रों के माध्यम से, कल्पना के माध्यम से स्वस्थ जीवन मूल्यों की स्थापना करने की ओर प्रवृत्ति होता है। इन माध्यमों में सर्वाधिक सफल, उपयोगी और सशक्त माध्यम कल्पना ही है।

कहानी ‘गुलाम सुल्तान’ सुल्तान बल्वन के शासनकाल (1265ई-1257ई) की घटनाओं पर आधारित है। कल्पना— सुल्तान का पुत्र बुगरा खाँ तथा जयपाल के पुत्र सामंत कुमार पाल की पुत्री कमला एक दूसरे से प्रेम करते थे और किले में छुप-छुपकर मिलते थे। बंगाल के तुगरिल और हिन्दू सामंत मार्गध पाल की पत्नी बिन्दुमती के अनैतिक संबंध थे और दोनों कूटनीति से सुल्तान को मारकर राज्य हड़पना चाहते थे। सुल्तान को गुप्तचरों द्वारा इसकी सूचना मिल जाती है और वह दोनों को प्राणदण्ड देता है। इस काल्पनिक कथा पर कहानी का कलेवर अत्यन्त रोचक बन गया है। कमला, मार्गधपाल और बिन्दुमति आदि कल्पित पात्र हैं।

कहानी ‘देवदासी’ में पल्लवों के राजा सिंहविष्णु (575 ई-600ई) के शासनकाल में देवदासी प्रथा का वर्णन है।¹⁰ देवदासी रुक्मिणी का श्रेष्ठि रंगभद्र से पेम होना और दूसरी तरफ सेनापति धनंजय का रुक्मिणी पर आसक्त होना लेखक की कल्पनाशक्ति का उदाहरण है। राजकुमारी इन्दिरा का कवि सिन्धुनाद से अवैध संबंध और उससे उत्पन्न रुक्मिणी और अन्त में वासना क प्रबल वेग में लीन धनंजय द्वारा रुक्मिणी की हत्या, बचनबद्ध पुजारी रत्नगिति द्वारा हत्या अपने ऊपर लेना आदि काल्पनिक घटनाओं से कहानी अत्यन्त रोचक बन गयी है। देवदासी रुक्मिणी, पुजारी रत्नगिति, कवि सिन्धुनाद, राजमाता इन्दिरा, सेनापति

धनंजय और कवि सिन्धुनाद की औरस पुत्री सूर्यमणि आदि काल्पनिक पात्र हैं।

‘अनुर्तिनी’ कहानी विजनतीरा के संधाराम पर आधारित है आनन्द, जो नन्दिनी का पति था, इस वर्ष की अवस्था में डाकुओं द्वारा उठा लिया जाता है और संघ को समर्पित कर भिक्षु बना दिया जाता है। समस्त पारिवारिक जन उसे मृत समझ लेते हैं और नन्दिनी वैधव्य जीवन व्यतीत करने लगती है। कालान्तर में वह भी उसी संघ में बौद्ध भिक्षुणी बनने जाती है जहाँ उसका पति आनन्द भी अब एक भिक्षुक है। यद्यपि नन्दिनी अनुवर्तिनी बन जाती है किन्तु बौद्ध भिक्षु संघस्थविर का मन स्थिर हो जाता है। आनन्द गणना द्वारा नन्दिनी को जानकारी देता है कि वह उसका पति है। वे दोनों भिक्षुक जीवन त्याग कर गृहस्थ जीवन व्यतीत करना चाहते हैं किन्तु अन्य भिक्षु ऐसा जानने के बाद उन्हें सजा देना चाहते हैं और उसी समय यवनों का आक्रमण हो जाता है। अन्त में सभी भिक्षु-भिक्षुणी, आनन्द व नन्दिनी मारे जाते हैं।

कहानी ‘अमरता के क्षण’ में आर्यों के द्राविड़ों पर आक्रमण की घटना को लिया गया है। लेखक ने कहानी में शत्रु के प्रेम की कल्पना को साकार रूप प्रदान किया है। द्राविड़ों में जब एक आर्य घायल होकर आता है और अपनी चेतना खो बैठता है तब राजकुमारी उस पागल शत्रु से प्रेम करने लगती है। आर्य समझते हैं कि द्राविड़ों ने उनके सैनिक को दास बना लिया है तब वे पुनः आक्रमण कर विजयी हो जाते हैं और वह पागल आर्य फिर से अपनी चेतना प्राप्त कर लेता है और घायल राजकुमारी को पहचानने से इन्कार कर देता है।

‘वही टीले’ कहानी में सिंधुघाटी की सभ्यता के राजनैतिक व सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक जीवन में कल्पना का समन्वय किया गया है। शिष्यान्त (सिंधु देश) में नागरिक शासन—व्यवस्था बहुत अच्छी थी। नगर का गण स्वामी एक विशाल भवन में रहता था और वहाँ अनाज इकट्ठा कर दिया जाता था। सुमेर, एलाम और नाल आदि देशों के साथ व्यापारिक संबंध भी थे। नगर योजना से बनाया जाता था, नालियाँ भूमि के अन्दर होती थीं और सड़कें चौड़ी होती थीं।

इन्हीं सब ऐतिहासिक तथ्यों के वर्णन के साथ साथ लेखक ने नरबलि की परम्परा पर कहानी का काल्पनिक कलेवर तैयार किया है। ‘विशी’ जो कभी मन्दिर में अर्पित कर दी गयी थी और अपराध होने पर निकाल दी गयी थी उसे दण्ड मिला था कि जब तक नर—बलि के लिये वह अपने किसी प्रेमी को नहीं लायेगी तब तक मंदिर में फिर न जा सकेगी। अन्त में पीपल की छाया में उस पुरुष की बलि दी जाती है।

‘पतों की पीड़ा’ कहानी में प्रागैतिहासिक काल की आधार बनाया गया है यह पूर्व पाषाण काल के आसपास का समय था जब मनुष्य खेती करता और अपने लिए निवासगृह बनाना नहीं जानता था। नागजाति के ये लोग नाग देवता की पूजा करते थे और हड्डियों के आयुधों का प्रयोग करते थे। धीरे—धीरे विदेशी जाति (आर्य) के

आक्रमण हुए जो तांबे के बवर्णों का प्रयोग करते थे। इनके आक्रमण से नाग जाति जंगल में विलीन हो गयी और कुछ समय उपरान्त वहाँ पक्के मकान, दुकान आदि के द्वारा नदी का एक भाग नगर बन गया था।

शहर तथा व्यक्तियों के नामों की कल्पना के संबंध में उन्होंने स्वयं लिखा है:— “पुराने नामों का अभाव है। फिर पाठकों की समझ में बात आती है नये प्रचलित नाम लिखने पर। सो बहुत से ऐसे नामों का प्रयोग मैंने कर दिया है।”¹¹

ऐतिहासिक कथानक—‘गुलाम सुल्तान’ कहानी में सुल्तान बलवन के विरुद्ध तुगरिल के विद्रोह को लिया गया है। सुल्तान बलवन बहुत कट्टर शासक था। उसके गुप्तचर विभाग का संगठन बहुत मजबूत था। गुप्तचरों द्वारा ही उसे ज्ञात होता है कि हिन्दू सामंत मागंधपाल की पत्नी बिन्दुमती और बंगाल का सूबेदार तुगरिल खाँ कूटनीति से बलवन की हत्या कर राज्य हड़पना चाहते थे। वह तुगरिल को कैद करवा देता है। तुगरिल खाँ कहता है कि बलवन का जीवन ही उसके विद्रोह का कारण है। जब वह गुलाम से सुल्तान हो सकता है तो मैं क्यों नहीं हो सकता। बलवन मागंधपाल को बंगाल का राजा बनाकर कहता है कि तुगरिल मेरी प्रजा है इसे मैं सजा दूंगा—प्राणदण्ड और बिन्दुमती तुम्हारी प्रजा है तुम जो सजा देना चाहते हो दो और अन्त में बिन्दुमती को भी प्राणदण्ड मिलता है।

‘वही टीले’ कहानी में सिंधु घाटी की सभ्यता के काल को कथानक का रूप प्रदान किया है सभ्यता के विकसित होने के पूर्व मानव का अस्तित्व कैसा था उनका वर्णन यहाँ मिलता है। ‘मैं’ अपने बाधक के साथ हडप्पा व्यापार करने आया है और अब सिंधु देश की ओर जाना चाहता है। वहाँ आकर वे पाते हैं कि यहाँ वृषभ देवता, लिंगदेवता, महामाता की योनि पूजा आदि होती है। यहाँ के लोग नर बलि और ताबीज आदि में भी विश्वास करते हैं।

‘कार्तिकेय’ कहानी में प्रागैतिहासिक काल के उस समय की कथा है जब कार्तिकेय का जन्म हुआ था और गृहकलह चरम पर था असुरों का उत्पात बढ़ रहा था और इन्द्र आदि देवता विलासमग्न थे उस समय कार्तिकेय जैसे ही व्यक्ति की आवश्यकता थी जो चारों ओर शांति का वातावरण स्थापित कर दे।

‘पतों की पीड़ा’ में कहानी में प्रागैतिहासिक काल के उस कथ्य को लिया है जब मोहन—जोदड़ों में मानव सभ्यता धीरे—धीरे विकसित हो रही थी और निषाद जाति नाग जाति को अपने आधिपत्य में कर रही थी।

ऐतिहासिक देशकाल और वातावरण— ऐतिहासिक कहानियों में देशकाल के विषय में कहानीकारों को अधिक सतर्क रहना पड़ता है ताकि उसमें देशकाल संबंधी दोष न आये और वर्णन इतिहास विरुद्ध न हो पाये। वह उस युग के विशिष्ट रीति—रिवाज, वातावरण एवं घटित घटनाओं द्वारा उस युग की प्रासंगिकता सिद्ध करता है।

‘कार्तिकेय’ कहानी में कार्तिकेय के जन्म के पूर्व और पश्चात् का काल लिया गया है। इसमें असुरों का उत्पात और देवताओं की

विलासिता का वर्णन मिलता है।

'पतों की पीड़ा' कहानी में मानव के सभ्य जीवन की विकसित अवस्था का युग वर्णित है जब मनुष्य घर बनाना नहीं जानता था, कृषि से अनभिज्ञ था और आखेट ही उसकी मुख्य जीविका थी। धीरे-धीरे विदेशी जाति के आगमन से वह नवीन धातुओं एवं नवीन सभ्यता के संपर्क में आता है।

'वही टीले' कहानी में सिंधुघाटी की सभ्यता के काल अनुमानतः 3000 ई पूर्व को लिया गया है। इस समय घर-निर्माण तथा सड़क निर्माण योजनाबद्ध रूप से होता था। एक शक्तिशाली सरकार होती थी। नालियाँ भूमि के अन्दर बनीं होती थीं और मकान पक्की ईंटों के बनते थे। पुरुष लंबे बाल तथा दाढ़ी रखते थे, स्त्रियाँ विभिन्न आभूषण पहनती थीं। कृषि और पशुपालन मुख्य व्यवसाय था। इस सभ्यता का विनाश कई बार हुआ और यहाँ के निवासियों ने कई बार उसका निर्माण करवाया।¹²

आकृति एवं वेशभूषा— "सूर्यमणि के श्याम मुख पर उस स्वर्ण मुकुट की हल्की प्रभा छिटककर उसे किंचित् हरिताम बना रही थी। उसके सफेद चीनांशुकों में वह सुघर अंग संगठन किसी चतुर शिल्पी की कला का अदम्य प्रमाण लगता था। रत्नों और आभूषणों से लदी वह राजकुमारी, मानसरोवर के मांसल इन्दीवर सी पुलक उठी। उसके विशाल नयनों की कोरों में शतदल के कांपते दलों की लालिमा चपल चितवन की विद्युत-वाहिनी तृष्णा को सहला देती थी।"¹³

संदर्भ ग्रन्थ सूची:

1. पृ. 19 हिन्दी साहित्य का इतिहास— डॉ नगेन्द्र, डॉ हरदयाल

2. पृ. 22-23 हिन्दी साहित्य का इतिहास—डॉ नगेन्द्र
3. साहित्य संदेश, जनवरी-फरवरी, सन् 1954, रांगेय राघव स्मृति अंक
4. भूमिका-मेरी प्रिय कहानियाँ-रांगेय राघव
5. पृ. 76 भारत का इतिहास-(1000 से 1707 ई तक) डॉ आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव तथा पृ 112 मध्यकालीन भारत-डॉ विपिन बिहारी सिन्हा
6. पृ. 153 प्राचीन भारत का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास-बी. एन. लुणिया
7. पृ. 178 देवदासी, रांगेय राघव की संपूर्ण कहानियाँ भाग 1-सं. अशोक शास्त्री
8. पृ. 374 प्राचीन भारत का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास-बी. एन. लुणिया
9. पृ. 690, आधुनिक यूरोप का इतिहास (1789 ई से आज तक) विद्याधर महाजन
10. पृ. 286, प्राचीन भारत (प्रागैतिहासिक युग से 1200 ई तक) एल. पी. शर्मा
11. पृ. 244, वही टीले- रांगेय राघव की सम्पूर्ण कहानियाँ भाग 2
12. पृ. 24 से 31, प्राचीन भारत (प्रागैतिहासिक युग से 1200 ई तक) एल. पी. शर्मा
13. पृ. 179, देवदासी- रांगेय राघव की सम्पूर्ण कहानियाँ भाग 2



सूचना तकनीकी का विकास और वर्तमान स्थिति (ग्वालियर जिले के विशेष संदर्भ में)

डॉ. वसुधा अग्रवाल

विभागाध्यक्ष एवं प्राध्यापक

डॉ. भगवत सहाय शा. महाविद्यालय, ग्वालियर(मध्यप्रदेश)

सूचना तकनीकी वह उद्योग है जो कम्प्यूटर और उसके सहायक उपकरणों की सहायता से ज्ञान का प्रसार करता है, संबंधित सॉफ्टवेयर का भी इसमें समावेश होता है। सूचना तकनीकी में प्रगति के कारण सूचना को भूमि, श्रम और पूँजी के साथ उत्पादन का चौथा साधन समझा जाता है। प्राथमिक, द्वितीयक और तृतीयक उद्योगों के त्रि-क्षेत्रीय मॉडल के साथ एक चौथे क्षेत्र सूचना आधारित उद्योग का विकास हुआ है। सूचना तकनीकी का व्यापक प्रभाव इतना सशक्त है कि मानवीय जीवन का कोई क्षेत्र ऐसा नहीं जिसमें इसने अपना स्थान के न बना लिया हो। सूचना तकनीकी ने इंटरनेट के प्रयोग से सारे विश्व को समन्वित कर दिया है। विश्वव्यापी वेब के आरंभ पश्चात् दुनिया के किसी भी भाग से सूचना प्राप्त करना संभव हो गया है। इंटरनेट से अर्थव्यवस्था को बहुत शक्तिशाली बन गयी है।

सूचना तकनीकी का विकास हाल ही में हुआ है किंतु यह भारत में तेजी से फैल रही है। परंतु भारत को अभी भी एक लंबा सफर तय करना है कि वह विकसित देशों के बराबर पहुँच सके। यह कह सकते हैं कि भारत में इंटरनेट तकनीक का विस्तार हुआ, परंतु यह जनसामान्य तक पहुँच नहीं पायी और यह केवल समृद्ध और उत्कृष्ट वर्गों तक ही सीमित है।

सूचना तकनीकी क्षेत्र में बहिस्त्रोतीकरण ने एक अंतर्राष्ट्रीय आयाम प्राप्त कर लिये हैं। अमेरिकी फर्म भारत और चीन जैसे विकासशील देशों से आईटी सॉफ्टवेयर और सेवायें ठेके पर प्राप्त करना अधिक लाभदायक समझती हैं। विकासशील देशों में इनकी लागत विकसित देशों की तुलना में कम होती है। कई फर्म देश में भी बहिस्त्रोतीकरण का प्रयोग करती हैं। कारों के उत्पादक सभी पुर्जों को फर्म के अंदर ही उत्पन्न नहीं करते, बल्कि कुछ पुर्जों को अन्य उत्पादकों से प्राप्त करते हैं। जो इनमें विशेषज्ञता रखते हैं। इससे उन्हें अपनी लागत कम करने में सहायता प्राप्त होती है।

सूचना तकनीकी ने इंटरनेट के प्रयोग से सारे विश्व को समन्वित कर दिया है। विश्वव्यापी वेब के आरंभ के पश्चात् दुनिया के किसी भी भाग से सूचना प्राप्त करना संभव हो गया है। इंटरनेट अर्थव्यवस्था बहुत शक्तिशाली बन गयी है। संयुक्त राज्य अमेरिका 1998 में इंटरनेट से 270 अरब डॉलर का ओटोमोबाइल से 350 अरब डॉलर, ऊर्जा से 223 अरब डॉलर का व्यापार करता है। इंटरनेट सूचना प्रसारण की मुख्य एजेंसी है किंतु ही यह समृद्ध वर्ग तक सीमित है जैसा कि तालिका से स्पष्ट है—

तालिका -1

2006 में विश्व में इंटरनेट प्रोक्ताओं (यूजर्स) की संख्या

देश	इंटरनेट प्रोक्ताओं (यूजर्स) की संख्या (प्रति हजार)
यू.एस.ए	695
जापान	985
चीन	104
भारत	55

अतः तालिका से स्पष्ट है चाहे भारत में इंटरनेट तकनीकी का विस्तार हुआ किंतु यह जनसामान्य तक नहीं पहुँच पायी है। यह केवल समृद्ध और उत्कृष्ट वर्गों तक ही सीमित रही।

सूचना प्रदाय प्रणाली के विभिन्न रूपों अर्थात् रेडियो, टी.वी., समाचार पत्र, टेलीफॉन, वैयक्तिक कम्प्यूटर और इंटरनेट के एकीकृत विकास के साथ यह अत्यंत वांछनीय है कि सूचना तकनीकी की सेवायें सामान्य जनता तक पहुँच जाये।

तालिका -2

चुने हुये देशों की संचार और सूचना संबंधी स्थिति 2007 (प्रति हजार)

क्र	देश	दैनिक समाचार पत्र	टीवी सेट	टेलीफोन मेनलाइन	मोबाइल टेलीफोन	वैयक्तिक कम्प्यूटर	इंटरनेट प्रोक्ताओं
1	यू.एस.ए.	194	990	570	780	762	695
2	यू.के.	292	980	550	1150	758	554
3	फ्रांस	431	940	360	1080	575	491
4	जापान	551	990	110	780	676	685
5	कनाडा	175	990	640	530	876	681
6	चीन	74	890	280	350	43	104
7	भारत	73	320	45	150	16	55

स्त्रोत - विश्व बैंक विश्व विकास सूचकांक 2008 से संबंधित

उक्त तालिका से स्पष्ट है कि भारत में 26 प्रतिशत गरीबी रेखा के नीचे जीवन यापन करते हैं। 20 प्रतिशत समृद्ध और उच्च वर्ग है तथा 40 प्रतिशत मध्यम वर्ग में हैं। अतः सरकार को 40 करोड़ को दैनिक जीवन में सूचना तकनीकी के लाभ के

प्रयोग का लक्ष्य रखना चाहिये। वर्तमान स्थिति तो यह है कि देश की सूचना तकनीकी सेवायें जनसामान्य तक पहुँचाने में बहुत पीछे है। यदि हम विभिन्न क्षेत्रों में आईटी सेवाओं को देखें तो उनका विस्तार सेवागत क्षेत्रों में निम्नानुसार है, जैसा कि तालिका से स्पष्ट है-

तालिका -3

देश में आईटी बाजार का ढाँचा (प्रतिशत में)

क्षेत्र	1990-2000	2002-2003
आईटी / टेलीकॉम	10	22
बैंकिंग एवं वित्त	18	21
विनिर्माण	12	15
सरकार	34	14
शिक्षा	3	11
छोटा दफ्तर/घर	11	11
ऊर्जा/परिवहन	12	6
कुल	100	100

देशी आईटी बाजार में चाहे आधुनिक वर्षों में सरकारी क्षेत्र का भाग 1999-2000 में 34 प्रतिशत था किंतु तीन वर्षों में टेली संचार ने प्रथम स्थान प्राप्त कर लिया। इसके बाद बैंकिंग क्षेत्र में एवं सस्थाओं का स्थान है। सूचना तकनीकी भारतीय अर्थव्यवस्था के प्रत्येक क्षेत्र में प्रवेश कर रही है। इस कारण आगामी दशक में विभिन्न क्षेत्रों की सापेक्ष स्थिति में परिवर्तन होगा।

ग्वालियर जिले में संचार तकनीकी की स्थिति-

सूचना तकनीकी के विकास एवं वर्तमान स्थिति को ज्ञात करने हेतु शोधार्थी ने ग्वालियर जिले का अध्ययन किया है संचार एवं तकनीकी की स्थिति को सुधारने हेतु क्या प्रयास किये जायें, इसका विवरण दिया गया है।

अध्ययन का उद्देश्य:-

1. इंटरनेट सूचना तकनीकी सेवाएँ सामान्य जनता तक पहुँचाना।
2. भारत के सबसे बड़े मध्यम वर्ग के लिये सरकार को लक्ष्य बनाना चाहिये जो सूचना तकनीकी से संबंधी वस्तुओं और सेवाओं लिये बड़ेभारी बाजार की क्षमता रखते हैं ताकि वे अपने दैनिक जीवन में सूचना तकनीकी के लाभों का प्रयोग कर सकें।
3. सूचना तकनीकी सेवायें विकसित कर संचार एवं नेटवर्किंग आधार संरचना जैसे टेलीसंचार नेटवर्क, इंटरनेट द्वारा केबल टी.वी. नेटवर्क उपलब्ध कराना जिससे वे रोजगार भी प्राप्त कर सकें।
4. उपकरणों की उपलब्धि और क्रय करने की सामर्थ्य विकसित करना।

अध्ययन हेतु शोध प्रविधि:-

अध्ययन हेतु सामान्य जनता का सर्वेक्षण कर उनका वर्गीकरण एवं सारणीयन करना है तथा प्राथमिक और द्वितीयक समकों का विश्लेषण एवं निर्वचन कर आंकड़ों का प्रस्तुतीकरण करना है। इसमें साक्षात्कार विधि एवं अवलोकन विधि का भी प्रयोग किया गया है। समस्याओं के आधार पर सुझाव देकर निष्कर्ष निकाला गया है। शोध हेतु ग्वालियर जिले को अध्ययन क्षेत्र चुना गया है। इसमें निदर्शन विधि के माध्यम से चुनाव कर सर्वेक्षण किया गया है।

अध्ययन क्षेत्र में संचार तकनीकी की स्थिति का अध्ययन किया गया। ग्वालियर जिले में हार्डवेयर की कीमतें काफी ऊँची हैं इसलिये एक व्यक्तिगत कम्प्यूटर खरीदने के लिये, यहाँ व्यक्ति को 2 वर्ष की प्रति व्यक्ति आय व्यय करनी पडती है। इन पर करो की अधिकता के कारण कीमतों में 30 से 40 प्रतिशत तक बढ़ जाती है। इसकी कीमतें कम करने के लिये हमें देशी बाजार को विकसित करने की आवश्यकता है।

विश्वसनीय उद्यमकर्ताओं को साहाय्यित बाजार दर पर ऋण उपलब्ध करा कर देशी बाजार को विकसित किया जा सकता है। सूचना तकनीकी के यदि प्रशिक्षण की बात करें तो वह भी ऊँची लागत के कारण निम्न एवं मध्यम वर्ग के लोग वहन नहीं कर पाते हैं, क्योंकि वह उनकी पहुँच के बाहर होती है। सूचना तकनीकी के बारे में समाज में 'कौशल' और 'पहुँच' के आधार पर एक दुःखद विभाजन हो गया है। इस प्रकार समाज आर्थिक आधार पर वर्ग

और क्षेत्र ज्ञान अर्थव्यवस्था की दृष्टि में बंट गये हैं। यह विभाजन नगरों एवं ग्रामों में भी है। परिणामतः सूचना तकनीकी में शिक्षा प्राप्त और इस शिक्षा से वंचित व्यक्तियों में आय संबंधी असमानता बढ़ गयी है।

अध्ययन क्षेत्र में सूचना तकनीकी के धीमी वृद्धि होने के कारण:- डायल कनेक्शनों की ऊँची दर, ऊँचे किराया एवं प्रयोक्ता दातव्यों का आर्थिक क्षमता पर प्रभाव, ग्राम क्षेत्रों में सुविधाओं का धीमी गति से पहुँच पाना, स्थानीय भाषा के प्रयोग का अभाव, ब्राडबैंड अर्थात् सदा चालू रहने वाला नेटवर्क विकास और परिवर्तन का इंजन बनाने के लिये जनता को उनकी आर्थिक सामर्थ्य के अनुकूल कीमतों पर ब्राडबैंड उपलब्ध कराना होगा। इन कारणों को दूर कर ही आम आदमी तक सूचना तकनीकी पहुँचायी जा सकती है।

अध्ययन क्षेत्र में सूचना तकनीकी आधार संरचना और सेवायें उपलब्ध कराने हेतु तीन शर्तें:-

- पहुँच उपकरणों की उपलब्धि और उन्हें क्रय करने की सामर्थ्य उत्पन्न करना।
- संचार एवं नेटवर्किंग आधार संरचना उपलब्ध कराना जिसमें टेली संचार नेटवर्क, इंटरनेट द्वारा कॅबिल नेटवर्क शामिल करना।
- सूचना तकनीकी सेवाओं का विकास।
ग्वालियर जिले में शर्तें पूर्ण हो रहीं हैं, सूचना तकनीकी की सेवायें उपलब्ध करायी जा सकती है।

तालिका - 4

ग्वालियर जिले में संचार और सूचना संबंधी स्थिति (प्रति हजार)

वर्ष	दैनिक समाचार पत्र	टीवी सेट	टेलीफोन मेनलाइन	मोबाइल टेलीफोन	वैयक्तिक कम्प्यूटर	इंटरनेट प्रोक्ताओं
2001	94	680	25	150	09	22
2005	113	750	28	240	13	51
2010	122	860	36	460	24	63
2011	136	940	41	730	50	78

उक्त तालिका से स्पष्ट है कि ग्वालियर जिले में संचार और सूचना तकनीकी का विस्तार बहुत ही कम हुआ है। जिला

संचार के क्षेत्र में अभी पिछड़ा हुआ है।

तालिका - 5

ग्वालियर जिले में विभिन्न क्षेत्रों में आईटी का उपयोग (प्रतिशत में)

क्षेत्र	1990	2011
आईटी / टेलीकॉम	08	18
बैंकिंग एवं वित्त	16	23
विनिर्माण	11	15
सरकार	40	16
शिक्षा	07	11
छोटा दफ्तर/घर	08	10
ऊर्जा/परिवहन	10	07
कुल	100	100

उक्त तालिका से स्पष्ट है कि आईटी का उपयोग 1990 में सरकारी क्षेत्र में अधिक था जो कि 2011 में बढ़कर बैंकिंग और वित्त क्षेत्र में अधिक होने लगा था, क्योंकि ये सभी अपनी क्रियाओं का तेजी से कम्प्यूटरीकरण कर रहे हैं।

समस्याएँ—

- इंटरनेट के लिये पहुँच उपकरण व्यक्ति कम्प्यूटर, इंटरनेट के साथ टी.वी. को जोड़ने के उपकरण, केबिल, मॉडम आदि की लागत अधिक है जो कि आम आदमी की पहुँच के बाहर है।
- ग्वालियर में 2 से 3 प्रतिशत व्यक्ति टेलीफॉन की लागत भरने की सामर्थ्य रखते हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में टेलीफॉन लगाने की लागत अभी भी ज्यादा है।
- किसी निजी सेवा को उपलब्ध कराने वाले के लिये जिला स्तर पर इंटरनेट सुविधा स्थापित करने की वर्तमान लागत 85 लाख रुपये है इसलिये बहुत से भागों में इस सेवा को उपलब्ध कराना कठिन होगया है।
- टेली संचार विभाग को इंटरनेट सेवा उपलब्ध कराने वालों को डाटा सर्किट उपलब्ध कराने में अधिक समय लगता है इस कारण सेवाओं की गुणवत्ता और उनके पहुँचाने में बड़ी अनिश्चितता रहती है।
- अधिकतर सूचना तकनीकी या इंटरनेट सेवायें सूचना पहुँचाने के लिये अंग्रेजी माध्यम का प्रयोग करती है। इसे आम जनता में फैलाने के लिये विभिन्न भाषाओं के प्रयोग को विकसित करना होगा।

सुझावः—

- जिले के नागरिकों के लिये सशक्तिकरण और सूचना के शक्तिशाली उपकरण (इंटरनेट) की उपलब्धता आसान करायी जावे।

- उपकरणों की लागतें कम की जायें जिससे वे आमजन तक पहुँच सकें।
- ग्रामीण क्षेत्रों में संचार तकनीकी को विकसित कर ग्रामीणों को लाभ लेने हेतु प्रोत्साहित किया जावे।
- क्षेत्रीय भाषा में इंटरनेट सेवायें उपलब्ध करायीं जावें।
- स्थानीय स्तर पर लोगों को प्रशिक्षित किया जाये जिससे वे उपकरण खराब होने पर सुधारे सकें तथा उन्हें उससे रोजगार भी प्राप्त हो सके।

निष्कर्षः—

हमारे सूचना एवं संचार तकनीकी नेटवर्क की सबसे बड़ी कमजोर कड़ी ग्रामीण आधार संरचना का न्यून विकास है। हमें उन्नत आईटी कौशल हार्डवेयर का विकास एवं सॉफ्टवेयर उद्योग का विकास करना होगा। इंटरनेट सुविधाओं को कम लागत पर उपलब्ध कराकर सूचना तकनीकी के देशीय बाजार को विकसित करना होगा, क्योंकि वही एक विश्वसनीय विकल्प है।

संदर्भ ग्रंथ सूची :

1. www.google.com
2. शोधपद्धतियाँ—कोठारी
3. सूचना तकनीकी के बदलते आयाम—डॉ. सैनी
4. मध्य प्रदेश—शिव अनुराग पट्टेरिया
5. सूचना प्रौद्योगिकी के दौर में कैरियर—विनीता सिंघल
6. दूर संचार कथा—मोहन सुंदर राजन
7. इण्डियाज डवलपमेंट—अमर्त्य सेन एवं झूजी
8. रूरल डवलपमेंट इन इण्डिया—के. आर. गुप्ता



प्राचीन भारत में कन्याओं की विवाह योग्य आयु (वैदिक काल से पूर्व मध्यकाल तक)

प्रशान्त कश्यप

असिस्टेंट प्रोफेसर डी.ए.वी.पी.जी कॉलेज, वाराणसी(उत्तरप्रदेश)

विवाह संस्कार को सर्वोत्कृष्ट महत्त्व प्रदान किया गया है। एक अच्छे वर के लक्षण क्या है? वर का चुनाव किस प्रकार होना चाहिए? विवाह के समय वर-वधू की आयु कितनी होनी चाहिए? इन सभी विषयों पर हमारे प्राचीन धर्मग्रन्थों में प्रकाश डाला गया है। प्राचीन भारत में भिन्न-भिन्न कालों में, भिन्न-भिन्न जातियों में कन्याओं के लिए कोई निश्चित अवधि नहीं रखी गयी थी। यदि पुरुष चाहे तो जीवन भर अविवाहित रह सकता था, जबकि कन्याओं के लिए विवाह अनिवार्य माना जाता था।

ऋग्वेद तथा उत्तरवैदिक ग्रंथों में समन् शब्द अनेक बार आया है। यास्क तथा सायण ने समन् का अर्थ संग्राम लगाया है।¹ पिशेल (Pischel) के अनुसार यह एक सामाजिक उत्सव या मेला होता था जिसमें पुरुष, स्त्रियाँ, लड़कियाँ तथा अन्य लोग भाग लेते थे और कुछ युवतियाँ अपने पतियों का भी चुनाव कर लेती थीं।² शकुंतला राव शास्त्री पिशेल के इस मत से सहमत हैं। इस प्रकार के उत्सव या मेले प्राचीनकाल में यूनान में भी आयोजित किए जाते थे।³ ऋग्वेद के दसवें मंडल के एक मंत्र के विवरणानुसार समन् एक प्राचीन मेला था।⁴ अथर्ववेद में भी यह शब्द मेले के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है और बताया गया है कि इसमें जाने की चाह कुमारी लड़की की योग्यताओं में से एक थी।⁵ समन् में बड़ी संख्या में लड़कियाँ आकर्षक वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर जाती थीं; अपने प्रेमियों के साथ घूमती फिरती थीं⁶ और इनमें से कई वहाँ अपने जीवनसाथी का भी चुनाव कर लेती थीं।⁷ विवाह तय करने के उद्देश्य से (कभी-कभी) माता-पिता भी समन् में अपनी कुमारी लड़कियों को जाने के लिए प्रेरित करते थे।⁸

लड़के-लड़कियों के पारस्परिक प्रणय संबंधों,⁹ प्रेमियों द्वारा प्रेमिकाओं को भेंट दिए जाने¹⁰ तथा प्रेमिकाओं से मिलने के लिए अनेक परिवारजनों को मंत्र के प्रभाव से सुला देने के भी उल्लेख प्राप्य हैं।¹¹ ऋग्वेद में उशा को विकासोन्मुख शरीर वाली लड़की के रूप में प्रस्तुत किया और सूर्य को उसका प्रेमी बताया गया है।¹² सूर्या के विवाह का वर्णन करने वाले ऐसे मंत्र में ऐसे कई संकेत हैं जो विवाह के तुरंत बाद वधू को संभोग एवं संतानोत्पत्ति के योग्य दर्शाते हैं।¹³ कतिपय वैवाहिक अनुष्ठान भी वधू के युवती होने का संकेत देते हैं।¹⁴ ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में योषा, योषणा तथा योषित (अविवाहिता) विशेषण युवती के लिए प्रयुक्त हुए हैं।¹⁵ बिना माता-पिता वाली लड़कियों को उपयुक्त पति की तलाश करते हुए भी दर्शाया गया है।¹⁶ कशीवान् ऋषि द्वारा वृद्धावस्था में घोषा नाम की एक उमरदार महिला से विवाह करना¹⁷ ऋग्वैदिक काल में विवाह के लिए कन्या की उपयुक्त आयु का सही उदाहरण नहीं है क्योंकि इन दोनों ने असामान्य परिस्थिति में विवाह किया था।

ऋग्वैदिक काल में नवविवाहिता वधू का उसके पति के घर में पर्याप्त सम्मान होता था और उसे तुरंत घर की जिम्मेदारी सौंप दी जाती थी। इसी आशय का संकेत विवाह मंत्र के उस कथन में मिलता है जिसमें वधू को संबोधित कर कहा गया है 'तुम (वधू) अपने सास, श्वसुर, पति की बहनों तथा भाइयों की रानी बनो।'¹⁸ अथर्ववेद¹⁹ में भी यह मंत्र मिलता है जिससे ऋग्वेदोत्तर काल में भी इस परंपरा के प्रचलन की पुष्टि होती है।

ऋग्वेद के उपर्युक्त सभी संदर्भ कन्याओं के युवती होने पर ही उनके विवाह किए जाने का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। इसकी अप्रत्यक्षतः पुष्टि इस बात से भी होती है कि न केवल ऋग्वेद में, अपितु संपूर्ण वैदिक साहित्य में विवाह के समय किसी लड़की को अल्पायु का नहीं बताया गया है। उत्तर वैदिककाल के अंत तक भी यही स्थिति रही। कुछ लोगों ने छांदोग्य उपनिषद् (1.10.1) के उस संदर्भ को उद्धृत किया है जिसमें उशश्ति चाक्रायण की पत्नी के लिए आटिकी विशेषण प्रयुक्त हुआ है। शंकराचार्य ने इसका अर्थ अविकसित कन्या लगाया है²⁰ जो उचित नहीं है।

वैदिककाल में अधिकांशतः लड़कियों का रजस्वला होने के काफी बाद में विवाह किया जाता था और विवाह तय करने के लिए सदैव यह आवश्यक नहीं था कि माता-पिता अथवा अभिभावक की सहमति तथा अनुमति ली जाय।²¹ लड़कियों को लड़कों की भाँति तथा उनके साथ विभिन्न विषयों की शिक्षा दी जाती थी।^{21-A} अथर्ववेद²² में ऐसी लड़की का उल्लेख है जो ब्रह्मचर्याश्रम समाप्त करने के उपरांत किसी उपयुक्त युवक से विवाह करने की इच्छुक थी— ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्धते पतिं। उत्तरवैदिककाल में महिलाओं की स्थिति में पतन प्रारंभ हो जाने के बावजूद लड़कियों का विवाह अल्पायु में नहीं किया जाता था और न ही उनकी शैक्षिक सुविधाओं में विशेष कटौती किए जाने के प्रमाण प्राप्य हैं।

वेदोत्तरकाल में स्त्रियों की स्थिति में गिरावट आई थी। इस काल के लेखकों ने जिनमें सूत्र ग्रंथों के लेखक प्रमुख हैं, पहली बार इस बात पर बल दिया कि कन्या का विवाह उसके ऋतुमती होने के पहले अथवा अधिक से अधिक रजस्वला होने के बाद तीन महीने से लेकर तीन वर्ष की अवधि के भीतर अवश्य कर दिया जाना चाहिए। कतिपय धर्म एवं गृह्यसूत्रों के लेखकों ने विवाह योग्य कन्या के लिए नग्निका शब्द का प्रयोग किया है जिसकी विभिन्न लेखकों ने भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं। गौतम ने इसका अर्थ अल्पायु की कन्या लगाया है जो बिना वस्त्र पहने घूमती हो²³ और ऋतुमती²⁴ न हुई हो। उन्होंने यह भी कहा कि जिस कन्या का पिता उसके रजस्वला होने के बाद विवाह न करे, वह तीन महीने तक प्रतीक्षा करने के उपरांत स्वयं किसी योग्य वर से विवाह कर ले।²⁵ बौधायन ने प्रतीक्षा की यह अवधि बढ़ाकर तीन वर्ष तक कर दी और कहा कि यदि इस अवधि के बीत जाने पर भी पिता/अभिभावक उसका विवाह नहीं करते, तो वे भ्रूण हत्या के दोषी होते हैं।²⁶ साथ ही यह भी प्रावधान किया गया कि उपर्युक्त कालावधि में यदि उपयुक्त जीवनसाथी न मिल सके तो कन्या को अनुपयुक्त व्यक्ति से भी स्वयं विवाह कर लेना चाहिए।²⁷ इस नियम पर इतना अधिक बल जाने के बावजूद वेदोत्तरकाल में इसका अनुपालन करने वालों का प्रतिशत शायद नगण्य ही रहा होगा।

महाभारत में नग्निका को 16 वर्ष की कन्या बताया गया है जिसका विवाह 30 वर्ष के युवक से किया जाना चाहिए।²⁸ अमरकोष में ऐसी कन्या के लिए, जो रजस्वला नहीं हुई है, चार

विश्लेषणों का प्रयोग किया गया है— कोटवी, गौरी, नग्निका और अनागतर्तवा। मध्यकालीन टीकाकार भी नग्निका की व्याख्या के विषय में एकमत नहीं हैं। देवण्णमट्ट (13वीं शताब्दी का प्रारंभिक भाग) ने उसे 5-6 वर्ष की कन्या माना है जो बिना वस्त्र पहने नग्न घूमती हो और जिसमें नारी सुलभ लज्जाभाव उत्पन्न न हुआ हो।²⁹ अष्टाचक्र का भी लगभग यही मत है।³⁰ इसके विपरीत मित्रमिश्र (17वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध) ने नग्निका को 16 वर्षीया कन्या माना है। 32 मातृवत्त ने नग्निका की आयु तो नहीं बताई, किंतु उनका अभिप्राय युवती से ही था जो विवाह के तुरंत बाद संभोग्या हो।³¹

उपर्युक्त लेखकों में कुछ ने तो अपने समय की परंपरा का उल्लेख किया है, जबकि कुछ ने पूर्ववर्तीकाल की परंपरा को ही प्रस्तुत कर दिया। इस संबंध में यह बात ध्यातव्य है कि सभी समकालीन लेखक भी भी कन्या की विवाह योग्य अवस्था के संबंध में एकमत नहीं थे। उदाहरण के लिए पाणिनि³⁴ (ई.पू. पांचवीं सदी) ने बताया है कि लड़कियों का विवाह 16 वर्ष की आयु में किया जाना चाहिए।³⁵ परंतु गृह्यसूत्रों में इस संबंध में कुछ परस्पर विरोधी कथन मिलते हैं। कुछ सूत्रकारों के अनुसार कन्या के ऋतुमती होने के पहले ही उसका विवाह कर दिया जाना चाहिए; कुछ के अनुसार अधिक से अधिक उसके ऋतुमती होने के बाद तीन महीने के भीतर³⁶ और कुछ ने अधिकतम सीमा रजस्वला हो जाने के बाद तीन वर्ष मानी। कतिपय गृह्यसूत्रकारों ने विवाह के दौरान ही कन्या के मासिक धर्म होने का भी उल्लेख किया है³⁷ तथा विवाह के चौथे दिन चतुर्थीकर्म नामक अनुष्ठान संपन्न करने का प्रावधान किया जिसमें संभोग किया जाता था।³⁸ कौटिल्य का मत सूत्रकारों से अधिक भिन्न नहीं था। उनके अनुसार लड़की का विवाह 12 वर्ष की आयु में अथवा इसके आस-पास कर दिया जाना चाहिए।³⁹ पतंजलि के महाभाष्य से हमें ज्ञात होता है कि कम से कम कुछ उदाहरणों में वैवाहिक संबंध तय करने में लड़की की राय को भी महत्व दिया जाता था।⁴⁰ इससे भी उसके युवती होने का संकेत मिलता है। मेगस्थनीज के विवरण के आधार पर एरियन (Arian) का यह कथन कि पांड्य राज्य में कन्याओं का विवाह 7 वर्ष की आयु में ही कर दिया जाता था, इस काल में प्रचलित सामान्य परंपरा का द्योतक नहीं है।

महाकाव्यों के विवरणों से प्रमाणित होता है कि कम से कम शासक वर्ग के क्षत्रिय परिवारों में लड़कियों का विवाह प्रायः उनके युवती होने पर ही किया जाता था। रामायण से हमें ज्ञात होता है कि सीता के युवती एवं संभोग्या हो जाने पर ही उसके पिता जनक का ध्यान उसके विवाह की ओर गया।⁴¹ राम के तीनों भाइयों के विवाह भी युवतियों से ही किए गए थे क्योंकि उन सबने अपनी पत्नियों के साथ विवाह के तुरंत बाद रमण किया था।⁴² महाभारत की प्रमुख नारी पात्रों कुंती, सत्यवती, दमयंती तथा गंधारी सभी के विवाह प्रौढावस्था में हुए थे।⁴³

मौर्योत्तरकाल के लेखक इस संबंध में एकमत नहीं थे।

गाथासप्तशती के लेखक हाल (प्रथम सदी ई.) ने विवाह के चौथे दिन चतुर्थीमंगल कृत्य संपन्न किए जाने का उल्लेख किया है।⁴⁴ मनु (ई.पू. द्वितीय-प्रथम सदी-प्रथम-द्वितीय सदी ई.) ने 8 से 12 वर्ष तक की आयु की कन्या को विवाहयोग्य माना।⁴⁵

गुप्तकाल के स्मृतिकारों याज्ञवल्क्य, बृहस्पति तथा नारद ने भी रजस्वला होने के पूर्व ही कन्या का विवाह कर दिए जाने पर बल दिया जिसकी पुष्टि पंचतंत्र के लेखक विष्णुशर्मा ने भी की।⁴⁹ इसके विपरीत कालिदासकृत कुमारसंभव में पार्वती को, और अभिज्ञान-शाकुंतल में तथा उसकी सखियों प्रियवन्दा एवं अनुसूया जो कि ब्राह्मण जाति की थीं, के युवती हो जाने पर ही उन्हें विवाह योग्य बताया गया है। इस संबंध में वराहमिहिर का मत विशेष महत्व का है। उन्होंने विवाह योग्य कन्याओं की योग्यताओं में उसके युवती होने को भी शामिल किया है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची:

1. ऋग्वेद, 6.175.3 की टीका।
2. पिशेल, वे.एस. 2.313।
3. शास्त्री, शकुंतला राव, वीमेन इन दि वैदिक, एज, बम्बई, 1960, पृ.6।
4. वही, पृ.47।
5. वही।
6. ऋग्वेद, 7.2.5; 4.58.8; अथर्ववेद, 2.36.1।
7. ऋग्वेद, 4.58.8।
8. वही, 1.123.11; उपाध्याय, भगवतशरण, वीमेन इन ऋग्वेद, नई दिल्ली, 1974, पृ.55।
9. ऋग्वेद, 1.115.2।
10. वही 1.117.18।
11. वही, 7.55.5, 8।
12. शास्त्री, पूर्वाद्धृत, पृ.3।
13. ऋग्वेद, 10.85.25, 41-46।
14. वही, 7.55.8।
15. संदर्भों के लिए दृष्टव्य सूर्यकांत, वैदिक कोश, बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी, 1963, पृ.432।
16. उपाध्याय, पूर्वाद्धृत, पृ.60।
17. ऋग्वेद, 1.117.7; 2.17.7; 10.39.3 तथा 10.40.5।
18. वही, 10.85.33, 42, 44, 48।
19. अथर्ववेद, 10.1.44।
20. काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग- उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, 1980, पृ.432।
21. शास्त्री, शकुंतला राव, पूर्वाद्धृत, पृ. 89, 91।
- 21-A. वैदिक एज, बम्बई, 1965, पृ. 394।
22. अथर्ववेद, 10.5.18।
23. प्राग्वाससा प्रतिपत्येरित्येके। गौतम धर्मसूत्र, 10.23।
24. प्रदानं प्राग्कृती, वही, 18.21।
25. वही, 18.15.20-22।

26. बौधायन धर्मसूत्र, 4.1.12-13।
27. दद्यात् गुणवते कन्यां नग्निकां ब्रह्मचारिणे। अपि वा गुणहीना वा नोपरन्ध्याद्दरजस्वलां॥ बौधायन धर्मसूत्र, 4.1.10.2।
28. त्रिंशद्वर्षः शोऽषवर्शा विदेत नग्निकाम्, संस्कारप्रकाश में पृ. 766 पर उद्धृत।
29. अमरकोश, 11.7.1108, 11.7.1089, 11.7.1108।
30. यावन्न लज्जमांगानि कन्या पुरुशसन्निधौ। योन्यादीन्यवगृहेत् तावद् भवति नग्निका॥ स्मृतिचंद्रिका, संस्कारकाण्ड, पृ.213।
31. नग्निकामप्राप्त स्त्री भावाम यौवनरसामुपयच्छेतेति।
32. संस्कारप्रकाश, पृ.766।
33. तम्माद्वस्त्रं विश्लेषणार्हां नग्निका मैथुनाहृत्यर्थः। हिरण्यकेशि गृह्यसूत्र, 7-19.2 की टीका।
34. अग्रवाल, वासुदेव शरण, इडिया ऐज नोन टु पाणिनि, लखनऊ, 1953, पृ.88।
35. सोलसिक वस्सुद् देसिक भावं, जातक, पृ. 456, सोलसवस्सकाले अभिरूपा वही, पपप, पृ. 93।
36. जैमिनि गृह्यसूत्र, 1.20।
37. पराशर गृह्यसूत्र, 1.8, आश्वलायन गृह्यसूत्र, 1.8.10, आपस्तंब गृह्यसूत्र, 8-9, मानव गृह्यसूत्र, 1.14।
38. सांखायन गृह्यसूत्र, 1.19.1-6; मानव गृह्यसूत्र, 1.14.16-20, काठक गृह्यसूत्र, 30.2.7, गोभिल गृह्यसूत्र, 2.57।
39. अर्यशास्त्र, 2.1.101।
40. महाभाष्य, 4.1.44।
41. पतिसंयोगसुलभं वयो हृष्ट्वा तु मे पिता। चिन्तामभ्यगमद्दीनो चिन्तनाषादिवाधनः॥ रामायण, 2.119, 34।
42. अभिवाद्याभिवाद्यांश्च सर्वा राजसुतास्तदा। रेभिरं मुदिताः सर्वा भर्तृभिः सहितारुः॥ वही, 1.77.14।
43. देखिए जयाल, शाकम्भरी, स्टेट्स ऑफ वीमेन इन दि, एपिक्स, पृ. 14-15।
44. गाथासप्तशती, 7.44।
45. मनु, 9.94।
46. याज्ञवल्क्य, 1.63-64।
47. बृहस्पति, 24.3।
48. नारद, 12.25।
49. कुमारसंभव, 4.84, 7.77, अभिज्ञानशाकुंतल, अंक तीन एवं चार।
50. बृहत्संहिता, 77.13, अजयमित्र शास्त्री, इडिया ऐज सीन इन बृहत्संहिता, दिल्ली, 1969, पृ. 202।



साठोत्तर महिला उपन्यास : नारी विद्रोह के स्वर

डॉ. सुमन कँवर

प्राध्यापक

श्री भवानी निकेतन स्नातकोत्तर महिला महाविद्यालय, जयपुर

साठोत्तर वर्षों में हिन्दी उपन्यासों में नारी के व्यक्तित्व की बनावट में बहुत बड़ा बदलाव आया। वह समाज के द्वारा अपने लिए तैयार किए गए साँचे में बने रहने से इंकार करने लगी, उन दीवारों को गिराने की बात करने लगी, जो इस पुरुष प्रधान समाज ने उसके चारों ओर खड़ी कर दी थी। साहित्य में 'नारी विमर्श' का जो मुहावरा बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक में तेजी से उछला, वास्तव में उसकी बनावट काफी पहले शुरू हो गई थी। यो तो 'नारी विमर्श' अपने-अपने तरीके से अपने-अपने रूप में हर युग में साहित्य का विषय रहा है परन्तु यहाँ हम 'नारी विमर्श' के उस स्वरूप की चर्चा कर रहे हैं जो साठोत्तर महिला उपन्यासकारों को उपन्यासों में परम्परागत साँचे के विरुद्ध विद्रोह के रूप में उभरता दिखाई देता है।

नारी-विद्रोह के स्वर को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर बुलंद करने का कार्य फ्रांसीसी लेखिका 'सीमोन द बोउवार' ने 'दि सेकेण्ड सेक्स' (1949) पुस्तक की रचना करके किया। उन्होंने घोषणा की कि स्त्री पैदा नहीं होती, बनाई जाती है अर्थात् स्त्री को बचपन से ही मानसिक तौर पर उसके नारी होने की भावना के लिए तैयार किया जाता है। पितृसत्तात्मक समाज स्वयं की सत्ता को बरकरार रखने के लिए स्त्री को जन्म से ही उनके नियमों में बांध देता है। इसके पश्चात् बेट्टी फ्राइडन ने 'दि फेमिनिन मिस्टिक' (1963) के द्वारा नारीवादी चिन्तन को एक नई दृष्टि प्रदान की।

इसके प्रभाव के फलस्वरूप साठोत्तर वर्षों में महिला लेखिकाओं के उपन्यासों में अपने दमित व्यक्तित्व के विरुद्ध नारी-विद्रोह के स्वर मुखर होने लगे। कृष्णा सोबती ने 'सुरजमुखी अँधेरे के', 'मित्रो मरजानी', 'डार से बिछुड़ी', 'ऐ लडकी' तथा 'दिलो दाबिश' आदि उपन्यासों के माध्यम से नारी-अस्मिता को कुचलने वाले सामाजिक प्रतिमानों के विरुद्ध विद्रोह का स्वर बुलन्द किया। उन्होंने स्त्री की बदलती हुई स्थिति, उसकी यातना और उसके संघर्ष की स्त्रीवादी दृष्टिकोण से नए रूप में प्रस्तुत किया। उनके 'मित्रो मरजानी' उपन्यास में लेखिका ने स्त्री की यौन-इच्छाओं की बेबाक अभिव्यक्ति की है तथा नायिका मित्रों के माध्यम से यह स्थापित किया है कि स्त्री की भी अपनी यौन-इच्छा होती है और वह उसे पूरा करने का अधिकार भी रखती है। उनकी नायिका मित्रो मध्यवर्गीय परिवार की जड़ हो चुकी मान्यताओं और अर्थहीन परम्पराओं के प्रति विद्रोह ही नहीं करती अपितु पुरुष के ठण्डेपन पर खुले आम अंगुली भी उठाती है। इसी प्रकार, 'दिलो दानिश' की महकबानो अपने वकील पति के अनुचित आदेशों का विरोध करती हुई उसके अहंकार पर प्रहार करती दिखाई देती है।

ममता कालिया ने भी अपने उपन्यास 'बेघर' में समाज द्वारा स्त्री के लिए बनाए गए यौन-शुचिता के मानदण्ड पर कुठाराघात किया है। उन्होंने प्रश्न उठाया है कि जब पुरुष विवाह से पूर्व किसी भी स्त्री के साथ यौन-संबंध बनाने के लिए स्वतंत्र है तो स्त्री क्यों नहीं। यही कारण है कि 'बेघर' की नायिका संजीवनी, जो कि परमजीत की प्रेमिका है, इस व्यवस्था के प्रति विद्रोह करती है तथा यह प्रश्न उठाती है कि दाम्पत्य-संबंधों का आधार यौन-संबंध और स्त्री-सौंदर्य ही क्यों है? आपसी समझ और आत्मीयता क्यों नहीं? इसी प्रकार की स्त्री-विद्रोह की स्पष्ट अभिव्यक्ति उनके उपन्यास 'एक पत्नी के

नोट्स' में देखने को मिलती है। मृदुला गर्ग के 'चित्तकोबरा', 'उसके हिस्से की धूप' और 'कठगुलाब' आदि उपन्यासों में ये स्त्री-विद्रोह के स्वर आसानी से सुने जा सकते हैं। इन उपन्यासों में अभिजात वर्ग की नारी के स्वातंत्र्य, प्रेम-विवाह, वैवाहिक जीवन की एकरसता, ऊब, ताजगी की तलाश में पर-पुरुष-संबंध आदि के संदर्भ में स्त्री-हृदय की बेबाक अभिव्यक्ति देखने को मिलती है। 'कठगुलाब' में स्त्री-विद्रोह के स्वर के साथ उभरे हैं। यहाँ स्मिता, मारियान, नर्मदा, असीमा आदि सभी नारी-पात्र पुरुष की मानसिकता पर प्रहार करते हुए स्त्री-पुरुष को समान धरातल पर लाने के लिए प्रयत्नशील दिखाई देते हैं। मंजुल भगत ने इस उपन्यास के संदर्भ में समाज के भ्रमंडलीय होते जाने की चर्चा है।²

'एक जमीन अपनी' उपन्यास में चित्रा मुद्गल ने नायिका के माध्यम से यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि यदि स्त्री पुरुष से स्वतंत्र होना चाहती है तो सबसे पहले उसे पुरुषों के द्वारा बिछाए गए जाल से बाहर निकल कर शारीरिक यातनाओं को झेलने से इंकार करना होगा। इस उपन्यास की नायिका अकिता विज्ञापन जगत की चकाचौंध के बीच पुरुषों की गलत नीतियों का विरोध करती हुई अपनी पहचान के लिए जमीन तलाश करती दिखाई देती है।

नासिरा शर्मा के उपन्यास 'शाल्मली' एवं 'ठीकरे की मँगनी' में नारी का विद्रोही स्वर उभरा है। 'शाल्मली' की नायिका घर-परिवार से संघर्ष करती हुई स्वयं को स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील दिखाई देती है किन्तु उसका यह संघर्ष पुरुष प्रधान समाज के प्रति विद्रोह से प्रेरित न होकर अपनी पहचान की तलाश के लिए अधिक है। नायिका शाल्मली हीन-भावना से ग्रसित अपने पति नरेश के व्यंग्य-बाणों से भीतर तक आहत होती है तथा अन्ततः हुंकार भरकर तनकर स्थिति का सामना करने के लिए खड़ी हो जाती है। उसका पति नरेश शाल्मली की प्रगति से अपने अहं को आहत महसूस करता है और उसे यह लगने लगा है कि 'यदि उसने शाल्मली की लगाम धामकर न रखी तो यह घोड़ी उसके अस्तबल में नहीं रह पायेगी।' लेखिका ने नायिका के माध्यम से स्त्री-मुक्ति की अवधारणा को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। शाल्मली अपनी मित्र सरोज से कहती है "मेरी नजर में सही नारी-मुक्ति और स्वतंत्रता, समाज की सोच और स्त्री को बदलने में है। बाहर निकलो या घर में रहो, हर स्थान पर पुरुष तुमसे टकरायेगा।"³ 'ठीकरे की मँगनी' उपन्यास में भी नायिका महारूख पुरुष प्रधान समाज के विरुद्ध स्वर बुलन्द करती दृष्टिगत होती है, वह कहती है कि पुरुष उसके लिए न तो जिन्दगी की धुरी है और न खिड़की उसके लिए अपनी पहचान, अपनी अस्मिता सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है तथा वह किसी भी स्थिति में अपनी पहचान को धुंधला होते हुए नहीं देख सकती। उसके सम्पूर्ण जीवन का संघर्ष वास्तव में उसकी अपनी पहचान की तलाश का संघर्ष है। नायिका महारूख का अपनी माँ से कहा गया यह कथन इस बात का साक्ष्य है कि उसकी दृष्टि में अपनी तलाश कितनी महत्त्वपूर्ण है।

'मैंने कुछ खोकर पाया है अम्मी, आप इसे न जान सके तो वह अलग बात है, मगर मैंने सचमुच हृदयों से धिरकर, तजुबों की सुरंगों से निकलकर कुछ पाया है, जो बहुत कीमती, बहुत पुरमायनी है, जो आप नहीं मगर आने वाली नस्लों की औरतें समझेगी कि उसका सफर कब से शुरू हुआ था और वह औरत भावनात्मक धरातल पर हमसे ज्यादा मजबूत होगी, हर चोट को, हर चिटकन को गहराई से समझकर उसे रचनात्मक मोड़ देना हमसे कहीं अधिक ज्यादा जरूरी समझेगी।'⁴

इसी प्रकार, मंजुल भगत की 'अनारो' भी एक निम्नवर्गीय नारी होने के बावजूद अपनी महत्वाकांक्षाओं के चलते आधुनिकता और परंपरा के मध्य जूझती हुई दिखाई देती है। वह अपने वर्ग की समस्त विकृतियों और विद्रूपताओं से संघर्ष करती हुई अपने जीवन के कटु यथार्थ को अभिव्यक्त करती है।

मैत्रेयी पुष्पा के उपन्यासों में भी नारी-विद्रोह के स्वर तलछी के साथ उभरे हैं। उनके 'चाक', 'इदन्नमम्' एवं 'अल्मा कबूतरी' उपन्यासों में इन विद्रोही स्वरों की प्रति ध्वनि सफ़र ही सुनी जा सकती है। उनके 'चाक' उपन्यास की नायिक सारंग नारी-जीवन की विडम्बनाओं को यथार्थ रूप में चित्रित करती हैं। वह पुरुष के प्रत्येक अत्याचार और शोषण के खिलाफ आवाज उठाती है, उसे चुनौती देती है तथा समाज में पुरुष के वर्चस्व के लिए बनाई गई मान्यताओं को अस्वीकार कर देती है। उनके 'अल्मा कबूतरी' उपन्यास में अल्मा नामक कबूतरा जाति की ग्रामीण युवती के माध्यम से स्त्री-चेतना को अभिव्यक्त किया गया है। 'अल्मा कबूतरी' कबूतरा जाति की कथामात्र नहीं है, वह समकालीन राजनीति की दिशाहीनता, अपराधीकरण, सत्ता-संघर्ष, बेरोजगारी तथा जीवन मूल्यों के घोर पतन की यथार्थ गाथा भी है। सामाजिक जड़ता को तोड़ती और पारम्परिक रूढ़ियों को चुनौती देती हुई अल्मा जैसी दलित नारी की अपराजेय जिजीविशा समकालीन नारी-चेतना को शक्ति और प्रेरणा देने वाली है। वैसे यदि इसे अल्मा कबूतरी की व्यथा-कथा के रूप में ही देखा जाये तो भी इसमें दर्द की एक-एक रेखा हमारे मन में व्यवस्था के प्रति आक्रोश उत्पन्न करने में समर्थ हैं। उनके 'अगन पारवी' और 'विजन' उपन्यासों में नारी विद्रोह एक रूप में उभरा है। 'अगन पारवी' को डॉ. नामवर सिंह ने एक साथ स्त्री विमर्श, सम्पत्ति विमर्श और सती विमर्श तीनों का उपन्यास कहा है। नायिका भुवन का अदम्य व्यक्तित्व नारी-विद्रोह को अत्यन्त सशक्त रूप में प्रस्तुत करता है। 'विजन' का अत्यन्त प्रभावशाली चित्रण किया गया है। इन उपन्यासों में 'उनकी नारी-चेतना मूक विद्रोह से चलकर मुखर सामूहिक संघर्ष की दिशा में अग्रसर हुई है और सबसे बड़ी बात यह है कि उसमें सच कहने का साहस है और उनकी क्रांति चेतना किसी विचारधारा के दायरे में कैद न होकर अनुभव की आँच और अनुभूति के ताप से प्रेरित है।'⁵

नारी विद्रोह के स्वर की सर्वाधिक सशक्त अभिव्यक्ति प्रभा खेतान के उपन्यासों में देखने को मिलती है, उन्होंने 'द सैकेण्ड सेक्स' का

‘स्त्री उपेक्षिता’ के रूप में अनुवाद करके नारी-विमर्श को अत्यन्त प्रभावशाली ढंग से अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर प्रस्तुत किया। उनके ‘आओ पेपे घर चलें’, ‘छिन्नमस्ता’ और ‘पीली आँधी’ नारी को केन्द्र में रखकर लिखे गए उपन्यास हैं। ‘आओ पेपे घर चलें’ उपन्यास में लेखिका ने अमरीकी स्त्री के जीवन में व्याप्त अकेलेपन को पूरी सम्बन्धनशीलता और गहनता के साथ चित्रित किया है। यहाँ आइलिन पतियों और पाँच प्रेमियों के सम्पर्क में आने के बाद भी स्वयं को अकेला ही पाती है। उसके दुख का सच्चा भागीदार उसका कुत्ता पेपे ही है।’ हिन्दी उपन्यास में स्त्री की पीड़ा का चित्रण तो अब तक अनेक रूपों में हो चुका था। पर अमरीकी औरत के जीवन के सच को प्रस्तुत करने वाला यह हिन्दीका पहला उपन्यास है।’ ‘छिन्नमस्ता’ उपन्यास में लेखिका ने हर स्तर पर हो रहे स्त्री के शोषण की एक सशक्त और बेबाक अभिव्यक्ति की है, जिसमें शोषित नायिका अन्ततः जाग्रत हो उठती है और शोषणवादी व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह का खुला ऐलान करती है।

इसी प्रकार के नारी-विद्रोह के स्वर हमें वीणा सिन्हा के ‘पथप्रज्ञा’ गीतांजलि श्री के ‘माई’, ‘हमारा शहर उस बरस’ तथा ‘तिरोहित’ आदि उपन्यासों में भी स्पष्ट सुनाई देते हैं। ‘पथ प्रज्ञा’ में नायिका माधवी का निर्णय- ‘नहीं’ मैं अँधेरे में नहीं खोना चाहती। स्वीकार करना चाहती हूँ कि मैं मनुष्य हूँ और पिता, पति या संरक्षक के रूप में किसी पुरुष के प्रति समर्पित होने की अपेक्षा अपनी समस्त ऊर्जा को मानव मात्र में विस्तारित करना चाहती हूँ। वास्तव में आज की नारी की अपनी तलाश का ही स्वरूप है।

हिन्दी उपन्यास के विषय वस्तुगत विकास में महिला उपन्यासकारों का महत्वपूर्ण योगदान है। इन उपन्यासों ने न केवल भारतीय नारी की संघर्ष गाथा को अन्तर्राष्ट्रीय मंच प्रदान किया है बल्कि उसके विद्रोह को आवाज भी दी है। यहाँ स्त्रियों का समझौतावादी, पतिपरायण तथा सहनशील नारी-स्वर सुनाई ही नहीं देता क्योंकि यहाँ नारी अपनी अस्मिता की तलाश के लिए तथा पुरुष से पृथक अपने स्वतंत्र अस्तित्व की स्थापना के लिए संघर्ष करती चित्रित की गई है। उसका जर्जर हो चुकी मान्यताओं और व्यर्थ हो

चुकी परम्पराओं से तो विरोध है ही, साथ ही पुरुष प्रधान समाज के द्वारा आवश्यक रूप से (नारी पर) धोपे गए बहुआयामी प्रतिबंधों से भी विरोध है। वह अब स्वयं को पुरुष पर आश्रित अबला नारी के रूप में नहीं आँकती बल्कि सशक्त, स्वतंत्र व्यक्तित्व की धनी तथा अपनी प्रत्येक आकांक्षा को पूर्ण करने के मुक्त अधिकार से युक्त स्त्री के रूप में देखती हैं, फिर चाहे वह उसकी यौन जनित आकांक्षा ही क्यों न हो। इस नारी-विद्रोह की परिणति जब तक सकारात्मक हो, तब तक उचित है किन्तु जब यह प्रतिशोधात्मक और प्रतिवादात्मक रूप धारण कर ले तो निश्चय ही चिन्ता का विषय है क्योंकि मूल्यहीनता के पश्चात् सामाजिक बिखराव अवश्यभावी है। इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि मूल्य केवल स्त्रियों के लिए हैं, मर्यादाएँ केवल स्त्रियों के लिए हैं - स्त्री-पुरुष प्रकृति के वे दो प्रतीक हैं, जिनके संतुलित संयोग से ही सृष्टि जन्म लेती है - इसलिए यहाँ कौन कम और कौन ज्यादा है ? यह प्रश्न उठाना ही बेमानी है। दोनों की अपनी सत्ता हैं, अहमियत है, अनिवार्यता है। अतः मर्यादाओं और मूल्यों के निर्धारण में भी दोनों बराबर के भागीदार हैं। इस बात को जितनी जल्दी समझ लिया जायेगा, समाज के लिए उतना ही श्रेयस्कर होगा।

संदर्भ ग्रन्थ सूची :

1. सीमोन द बोउवार, अनु. प्रभा खेतान, स्त्री उपेक्षिता, पृ. 121
2. मंजुल भगत द्वारा की गई पुस्तक समीक्षा - ‘कठगुलाब’ साहित्य अमृत पत्रिका, पृ. 51
3. नासिरा शर्मा : शाल्मली
4. नासिरा शर्मा : ठीकरे की मँगनी।
5. डॉ. रामचन्द्र तिवारी - हिन्दी का गद्य साहित्य पृ. 275
6. डॉ. रामचन्द्र तिवारी : हिन्दी का गद्य साहित्य पृ. 276
7. गोपाल राय : हिन्दी उपन्यास का इतिहास, पृ. 425



पण्डित मदन मोहन मालवीय : प्रभु मेरो धर्म न जाये

रश्मि श्रीवास्तव

शोध छात्रा, शिक्षा संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

सत्य अहिंसा, ब्रह्मचर्य, व्यायाम, आत्मत्याग देश के लिए सर्वस्व त्याग करने की महानता के कारण 'महामना' की उपाधि प्राप्त करने वाले पं. मदन मोहन मालवीय जी के संदर्भ में या अनेक कार्यों को शब्दों में रेखांकित करना सूरज को दिया दिखाने के समान है।

पं. मदन मोहन मालवीय जी के मूल्यों और धर्म का वास्तविक स्वरूप काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के रूप में हमारे सम्मुख है, उनके धर्म से परिपोषित विष्वविद्यालय में आज न केवल हजारों विद्यार्थी शिक्षा से लाभान्वित हो रहे हैं अपितु कस्तूरी के समान सम्पूर्ण विश्व में विसरित हो रहे हैं। पं. मदन मोहन मालवीय जी का धर्म ईश्वर केन्द्रित था, उनके अनुसार ईश्वर ही संसार का कर्ता धर्ता है।

ईश्वर में अटूट विश्वास रखने वाले पं. मदन मोहन मालवीय जी का जन्म ब्राह्मण परिवार में हुआ था। ब्राह्मण का वास्तविक अर्थ होता है मन, वचन कर्म से पवित्रता, ऐसे गुणों से परिपूर्ण ब्राह्मण परिवार में पिता ब्रजनाथ व्यास जी के पुत्र के रूप में 25 दिसम्बर 1861 ई. में गंगा के रमणीय एवं पवित्र तट पर स्थित इलाहाबाद शहर में हुआ।

गुरु देवकी नन्दन का अटूट विश्वास, पिता से विरासत में मिली मृदुभाषिता, कर्मठता, साहस, धर्मप्रियता, अध्यावास ने ही आगे चलकर पं. मदन मोहन मालवीय में ऐसा विश्वास जाग्रत किया जिसके परिणाम स्वरूप सक्रिय राजनीति एवं शिक्षा में उनका योगदान उल्लेखनीय रहा। उनका दृढ़ विश्वास था, जीवन में कितनी भी विकट परिस्थितियाँ क्यों न आये, स्वयं मृत्यु का साक्षात्कार क्यों न हो फिर भी व्यक्ति को अपना आत्मविश्वास बनाये रखना चाहिए, ही विश्वविद्यालय का आधार बना।

मालवीय जी का बाल्य अवस्था से विभिन्न विषयों के प्रति झुकाव और धर्म के प्रति आस्था ही उनको महामना की ओर ले गया। दैनिक समाचार पत्र 'हिन्दुस्तान' का सम्पादन (1896), असहयोग आन्दोलन में भाग लेना तथा अपनी वाक् विद्या से विभिन्न स्वतन्त्रता सेनानियों को कैद से मुक्ति दिलाना आदि उनके जीवन के महत्वपूर्ण कार्य थे।

राजनीति के अतिरिक्त मालवीय जी का एक व्यक्तित्व और भी था और वह शिक्षा के प्रति उनका झुकाव, वे शिक्षा को निरन्तर उन्नति का आधार मानते थे।

मालवीय जी शिक्षा को धर्म से सम्बन्धित करके देना चाहते थे वे सनातन धर्म को ही अपना धर्म मानते थे लेकिन उनका सनातन धर्म संकीर्णता से मुक्त था, उनका धर्म गीता के श्लोक –

यदा-यदा हि धर्मस्य, ग्लानिर्भवति भारत।

अभ्युत्थानम धर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥

परित्राणाय साधूनां विनाषय च दुष्कृताम्।

धर्म संस्थापनार्थाय सम्मवामि युगे-युगे ॥

पर आधारित था, उनका धर्म श्रीमद्भगवद्गीता के सार कर्म की महानता पर आधारित था।

पं. मदन मोहन मालवीय उस सनातन धर्म के अनुयायी थे, जो मानवीय गुणों से परिपूर्ण था, उनका धर्म, सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, दयाशील, विवेक, समभाव दान और प्रेम का पोषक था।

मालवीय जी का धर्म ही उनके लिए सब कुछ था, उससे परे कुछ भी नहीं, उनके लिए धर्म का पालन ही ईश्वर के प्रति समर्पण था। ईश्वरवादी पं. मदन मोहन मालवीय मुण्डक उपनिषद् के वाक्य सत्यमेव जयते को मानने वाले थे वे स्वयं तथा आने वाली पीढ़ी को सत्य का रक्षक बनाना चाहते थे, स्मृति उपनिषद्, ब्राह्मण ग्रन्थ तथा पुराणों ने सत्य को ही विजय का आधार स्तम्भ माना है। उनके अनुसार सत्य का पालन मनुष्य का धर्म और कर्तव्य है।

महात्मा गाँधी के समान मालवीय जी भी अहिंसा को अपना धर्म मानते थे। मालवीय जी अहिंसा को सभी गुणों में सर्वश्रेष्ठ गुण मानते थे। वे मनुष्य मात्र से ही नहीं अपितु सम्पूर्ण प्राणी मात्र के प्रति अहिंसा का भाव रखते थे, वे शाब्दिक और अशाब्दिक दोनों प्रकार की हिंसा के प्रबल विरोधी थे।

उनका मानना था कि मनुष्य अपने वर्तमान स्तर (मनुष्य) से उच्च स्तर (मोक्ष) को तभी प्राप्त कर सकता है जब वह अहिंसा का पुजारी बन जाये। मालवीय जी अपने प्रांगण के सभी विद्यार्थियों को अहिंसा का पुजारी बनाना चाहते थे।

मालवीय जी के धर्म में ब्रह्मचर्य का अर्थ है— 'इन्द्रियों पर संयम' ऐसा संयम जो व्यक्ति को अनावश्यक रसपान से रोके। मालवीय जी के धर्म के अनुसार विद्यार्थी अगर ब्रह्मचर्य का पालन करता है तो वह न केवल शारीरिक बाधाओं से अपितु मानसिक व्याधियों से भी मुक्त रहता है। मालवीय जी के अनुसार स्वस्थ शरीर ही विद्यार्थी को अजेय बनाता है।

मालवीय जी के अनुसार ऐसा धर्म जिसमें दया न हो धर्म नहीं है, गरीब बेसहारा, असहाय और स्त्री पर दया करना, सदैव उनके कल्याण के लिए प्रयासरत रहना ही मानवीय धर्म है। मालवीय जी को महात्मा गाँधी के समान दूसरों की पीड़ा को समझने वाला, दूर करने का प्रयास करने वाला माना जाता है। स्वयं मालवीय जी विद्यार्थियों की शिक्षा व्यवस्था में दया भाव को केन्द्र में रखना चाहते थे।

मालवीय जी के अनुसार विवेक ही मानव को महान बनाता है, इसीलिए धर्म विवेक से युक्त होना चाहिए, उनके अनुसार विद्यार्थियों को सदैव विवेक के अनुसार कार्य करने चाहिए, संसार की प्रत्येक वह वस्तु जो विवेक का नाश करे, विद्यार्थियों को उसे त्याग देना चाहिए।

मालवीय जी का धर्म समभाव से युक्त था। उनका हिन्दू धर्म भाषा व क्षेत्रीय विभिन्नता से मुक्त था, सभी के लिए समान भावना थी। विश्वविद्यालय की संकल्पना के समय और संचालन के दौरान उन्होंने सभी वर्गों, धर्मों के साथ समान व्यवहार को केन्द्र में रखा। मालवीय जी का स्वप्न था कि विश्वविद्यालय की शैक्षिक संस्थाएँ मानव के लिए जीवन और ज्योति का केन्द्र बनें, यहाँ के विद्यार्थी समाज में समभाव के साथ सेवा कर सकें।

मालवीय जी का धर्म प्रेम के बिना अधूरा है। वे मानव मात्र से प्रेम करना ही जीवन का लक्ष्य और ध्येय मानते हैं, उनके अनुसार देश के प्रति देश प्रेम का सर्वोच्च रूप है। अभ्युदय, (1907) में लिखा कि वह धर्म, धर्म नहीं है जिसमें राष्ट्रभक्ति, न हो, राष्ट्रभक्ति निःस्वार्थ हो, उन्होंने विद्यार्थियों को सम्बोधित करते हुए लिखा है 'तुम लोग धर्म के सैनिक हो, धर्म की रक्षा के लिए सरस्वती के सैनिक हो, सैनिक का आदर्श अपने सामने रखो।'

मालवीय जी चरित्र को धर्म में स्थान देते हुये लिखते हैं कि चरित्र ही संयम का आधार है और संयम ही एकाग्रता की जननी होती है, और एकाग्र होकर ही हम मनन कर सकते हैं। मालवीय जी मानते थे व्यक्ति (विद्यार्थी) अपनी चारित्रिक दुर्बलताओं को धर्म के पालन से दूर कर सकता है।

मालवीय जी समर्पण को धर्म मानते हैं। धर्म का पालन हमें अदम्य साहस देता है। साहस से विश्वास और विश्वास से मानवीय लक्ष्यों की प्राप्ति होती है, ऐसा उनका विश्वास था।

'कर्मण्ये वाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' के सार में विश्वास रखने वाले मालवीय जी ने राजनीति और शिक्षा दोनों में समान रूप से कार्य किया।

मालवीय जी ने इसी धर्म को आधार बनाकर जीवन भर समाज के सभी वर्गों के उत्थान के लिए प्रयास किये समाज में व्याप्त विभिन्न बुराइयों को मिटाने का प्रयास किया, हिन्दू-मुस्लिम एकता को बढ़ावा देना, ब्राह्मणों के आधिपत्य का खण्डन करना आदि समाजसेवी कार्य किये।

मालवीय जी जैसे धार्मिक व्यक्तित्व के अनुसार धर्म में सत्य का पालन करना, अहिंसा को मानना, जिसमें शील हो, विवेक हो, न्याय हो, वही धर्म है। जो लोग मालवीय जी के धर्म का खण्डन करते थे या सहमत नहीं थे, उनके लिए मालवीय जी ने लिखा है कि धर्म के प्रभाव से ही मानव में प्रेम की भावना विकसित होती है और प्रेम की भावना से ही सम्पूर्ण समाज की समस्याओं का अन्त होता है। (अभ्युदय, 1920)

मालवीय जी शिक्षा को नैसर्गिक प्रक्रिया मानते हैं, उसे उन्नति का आधार मानते हैं। उनका स्वप्न था कि उनके प्रांगण में शिक्षक और विद्यार्थी उनके सुझाये मार्ग का अनुसरण करे, धर्म का पालन करे, हृदय से पवित्र बने, मन से निर्मल रहे तथा जहाँ भी जाये वहाँ के लोगों के मन के अधिवासी बनें।

संदर्भ ग्रन्थ सूची :

1. अभ्युदय (1907, 1909, 1916, 1921, 1921) में उद्धरित मदनमोहन मालवीय का शैक्षिक योगदान, शोध प्रबन्ध, वाराणसी, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय।
2. ग़ोवर, इन्द्रा (2001), संसार के महान शिक्षाशास्त्री, वाराणसी, विश्वविद्यालय प्रकाशन।
3. गाँधी, महात्मा (1927), सत्य के साथ मेरे प्रयोग, अहमदाबाद, नवजीवन प्रकाशन।

4. मालवीय, मदनमोहन (1921), मालवीय के लेख, नई दिल्ली, नेशनल पब्लिसिंग हाउस, ।
5. मालवीय, मदनमोहन (1921), सनातन धर्म प्रदीपक, वाराणसी, तारा प्रकाशन।
6. लाल मुकुट बिहारी (1978), मदन मोहन मालवीय, जीवन और नेतृत्व, वाराणसी, तारा प्रकाशन।
7. शरण वासुदेव (1962), महामना पं. मदन मोहन मालवीय के लेख और भाषण, वाराणसी, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, प्रकाशन।
8. सिंह. के. एन. (1974), मदनमोहन मालवीय का

शैक्षिक योगदान, शोध प्रबन्ध, वाराणसी, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय।

9. <http://www.hindu.blog.com/2008/11>
10. <http://protectthefreedom.blongsots.in/2010>
11. <http://timesofindia.indiatimes.com>
12. <http://hi.wikipedia.org/s/85t>



संस्कार एवं उसकी मनोवैज्ञानिकता

डॉ. अरुणा

संस्कृत विभागाध्यक्ष, राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, बाढ़मेर

संसार की प्रत्येक वस्तु स्वयं को दिव्य, भव्य तथा आकर्षक रूप में प्रस्तुत करने के लिए संस्कार की अपेक्षा रखती है। संस्कार का अर्थ है – परिमार्जित रूप में प्रस्तुति। वेद, पुराण तथा धर्मशास्त्रों में संस्कारों की आवश्यकता बतलायी गयी है। जैसे खान से सोना-हीरा निकलता है तो उसमें चमक, प्रकाश और सौन्दर्य लाने के लिए उसे तपाकर, तराशकर, मल हटाना एवं चिकना करना आवश्यक होता है। वैसे ही व्यक्ति में मानवीय शक्ति का आदान-प्रदान करने के लिए उसे उसका सुसंस्कृत होना आवश्यक है। अतः विधिपूर्वक व्यक्ति का संस्कार किया जाना चाहिए। संस्कारों द्वारा व्यक्ति के जीवन को शुद्ध एवं पवित्र बनाया जाता है। महर्षि अंगिरा के अनुसार जिस प्रकार किसी चित्र में विविध रंगों के योग से धीरे-धीरे निखार लाया जाता है, उसी प्रकार विधिपूर्वक संस्कारों के सम्पादन से ब्रह्मण्यता प्राप्त होती है।

भारतीय संस्कृति के अजस्र प्रवाह में जिन अवधारणाओं ने शनैः शनैः एक निश्चित स्वरूप ग्रहण करके भारत के मानव जीवन को अत्यधिक प्रभावित किया और जो हिन्दू धर्म का एक अनिवार्य अंग बन गयी, उनमें से एक अवधारणा संस्कार की थी।¹

‘संस्कार’ शब्द प्राचीन वैदिक साहित्य में नहीं मिलता, किन्तु ‘सम्’ के साथ ‘कृ’ धातु तथा ‘संस्कृत’ शब्द बहुधा मिल जाते हैं।²

जैमिनी के सूत्रों में कई बार ‘संस्कार’ शब्द का प्रयोग हुआ है। जैमिनी सूत्र की शबर टीका में संस्कार के विषय में कहा गया है कि ‘संस्कार’ वह है जिसके हो जाने पर व्यक्ति या वस्तु किसी कार्य के योग्य हो जाता है – ‘संस्कारो नाम स भवति यस्मिन् जाते पदार्थो भवति योग्यः कस्यचिदर्थस्य।’³

सभी स्थलों पर यह यज्ञ के पवित्र कार्यों के लिए प्रयुक्त हुआ है। तंत्रवर्तिका के अनुसार संस्कार वे क्रियाएँ हैं जो योग्यता प्रदान करती हैं। यह योग्यता दो प्रकार की होती है –

1. पाप मोचन से उत्पन्न योग्यता एवं
2. नवीन गुणों से उत्पन्न योग्यता।

तप से पापों या दोषों का मार्जन तथा संस्कार से नवीन गुणों की प्राप्ति होती है।

‘संस्कार’ शब्द गृह्यसूत्रों में नहीं मिलता, किन्तु यह धर्मसूत्रों में प्राप्त होता है।⁴ छान्दोग्योपनिषद् में बनाने या चमकाने के अर्थ में ‘संस्कारोति’ शब्द का प्रयोग हुआ है।⁵

प्रकृति से जो वस्तुएँ हमें जिस रूप में प्राप्त हुई हैं उसमें से कुछ ऐसी है, जिन्हें हम उसी रूप में उपयोग कर सकते हैं, जैसे जल, वायु। अनेक वस्तुएँ ऐसी हैं जो प्राकृतिक रूप से उपयुक्त नहीं होती और उपयोग के योग्य बनाने के लिये उनका संस्कार करना पड़ता है। संस्कृत होकर ही वे काम में आती हैं। ‘संस्कार’ का अर्थ है – सम्यक् करना या उपयुक्त बनाना। इसकी प्रक्रिया तीन प्रकार की होती है:

1- प्राकृतिक पदार्थों में जिन अनुपयोगी तत्वों का समावेश हो गया है, उन दोषों को दूर करना “दोषमार्जन” संस्कार कहलाता है।

2- उसके बाद उसके स्वरूप को प्रकाशित करने के लिए उसमें अतिशय विशेषता का आधार करना - “अतिशयाधान” दूसरा संस्कार है।

3- इन दोनों के उपयोग में लाने के लिए उसमें जो कमी दिखती है उसकी पूर्ति करना “हीनांगपूर्ति” नामक तीसरा संस्कार है।⁷

संस्कारों से अन्तःकरण शुद्ध होता है। संस्कार मनुष्य को पाप और अज्ञान से दूर रखकर आचार-विचार और ज्ञान-विज्ञान से संयुक्त रखते हैं। मनु के अनुसार द्विजातियों में माता-पिता के गर्भाशय और वीर्य के दोषों को गर्भाधान समय के होम तथा जातकर्म से, मुण्डन संस्कार से तथा मूज की मेखला जो उपनयन में धारण की जाती है, उससे दूर किया जाता है-“बैजिकं गर्भिकं चैनौ द्विजानामपमृष्यते।”⁸ याज्ञवल्क्य का मत है कि संस्कार करने से बीज एवं गर्भ से उत्पन्न दोष मिट जाते हैं। “एवमेनः शमं याति बीज-गर्भ समुद्भवम्।”⁹

मानव व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास ही संस्कारों का प्रयोजन है। जीवन के प्रगति-मार्ग में ये संस्कार सुन्दर सोपान के सदृश हैं जो मनुष्य के मनोविकारों तथा प्रवृत्तियों को शुद्ध करते हुए निरन्तर ऊँचा उठाते जाते हैं।¹⁰

संस्कार वे सामाजिक और धार्मिक क्रिया-विधियाँ होती हैं जिसमें मनुष्य के शारीरिक, बौद्धिक, मानसिक, चारित्रिक एवं सांस्कृतिक विकास का मार्ग प्रशस्त होता है। व्यक्तित्व के बहुमुखी विकास के लिए संस्कारों का विशेष महत्व है।¹¹

काणे महोदय के अनुसार संस्कारों के अनेक उद्देश्य थे। उपनयन जैसे संस्कारों का सम्बन्ध आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक उद्देश्यों से था। उससे गुणसम्पन्न व्यक्तियों से सम्पर्क स्थापित होता था, वेदाध्ययन का मार्ग खुलता था तथा अनेक प्रकार की सुविधाएं प्राप्त होती थीं। उनका मनोवैज्ञानिक महत्व भी था, जिसके लिए वह नियमों के पालन के लिये प्रतिश्रुत होता था। नामकरण, अन्नप्राशन तथा निष्क्रमण - ऐसे संस्कारों का केवल लौकिक महत्व था। उसमें केवल प्यार, स्नेह एवं उत्सवों की प्रधानता मात्र झलकती थी। गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन - ऐसे संस्कारों का महत्व रहस्यात्मक एवं प्रतीकात्मक था। विवाह-संस्कार का महत्व था, दो व्यक्तियों को आत्मनिग्रह, आत्मत्याग एवं परस्पर सहयोग की भूमि पर लाकर समाज को चलते जाने देना।¹²

हारीत के अनुसार संस्कारों की दो कोटियाँ हैं -

1- ब्राह्मः- वे संस्कार जो केवल स्मृतियों में वर्णित हैं - ‘ब्राह्म-संस्कार’ कहे जाते हैं, जैसे गर्भाधान। इसको सम्पादित करने वाले लोग ऋषियों की श्रेणी में आ जाते हैं।

2- देवः- पकाये हुए भोजन की आहुतियाँ, होम की आहुतियाँ एवं सोम यज्ञ आदि ‘देव संस्कार’ कहे जाते हैं। श्रौत सूत्रों में अन्तिम दो का वर्णन पाया जाता है।¹³

गृह्यसूत्रों में संस्कारों का वर्णन दो अनुक्रमों में हुआ है। अधिकांश विवाह से आरम्भ कर समावर्तन तक चले आते हैं। हिरण्यकेशि गृह्यसूत्र, भारद्वाज गृह्यसूत्र एवं मानव गृह्यसूत्र उपनयन से आरम्भ करते हैं। कुछ संस्कार यथा कर्णवेध एवं विद्यारम्भ गृह्यसूत्रों में वर्णित नहीं हैं। ये कुछ कालान्तरवाली स्मृतियों एवं पुराणों में ही उल्लिखित हुए हैं।¹⁴

भाषा परिच्छेद के अनुसार संस्कार कहीं स्थिति-स्थापक, जन्मजात, कहीं वेगजन्य, कहीं कर्मजन्य, कहीं अतीन्द्रिय यानी इन्द्रियों से परे, कहीं मानसिक स्पन्दजन्य, कहीं भावनाजन्य, कहीं स्मरणजन्य और कहीं प्रत्यभिज्ञानजन्य होते हैं। ये गहन चिन्तनात्मक संस्कार हैं।

अतीन्द्रिय संस्कार वंशानुगत होते हैं और सामान्यतया इन्द्रियजन्य होते हैं। आधुनिक मनोविश्लेषणवादी मनोविज्ञान ने मनस्तत्व के अन्तर्गर्भित स्तरों एवं तन्निहित संस्कारों की दिशा में क्रान्तिकारी प्रयोग किये हैं। मनो-विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान के शोधों ने यह पाया है कि मन के तीन स्तर हैं और प्रत्येक प्राणी इन तीनों स्तरों पर सोचता है, आचरण करता है और उन्हीं में जीता है।

उसके सारे व्यक्तित्व के ये तीन स्तर हैं -

1. चेतन - जागृति की अवस्था में अनुभव एवं संवेदन करने वाले मन का हिस्सा।
2. अर्द्धचेतन - स्वप्न की अवस्था में अचेतन मन से प्रभावित मन का हिस्सा।
3. अचेतन - दमित वासनाओं, कुंठाओं एवं संस्कारों से भरा हुआ गुप्त एवं चेतन स्तर पर न आने वाला हिस्सा। यह जागरण की स्थिति में अज्ञात किन्तु समस्त मानसिक अवस्थाओं का संचालक, प्रेरक एवं मनोविकारों का जन्मदाता है। यह मन का सर्वोच्च भाग है।

जो स्वप्न में, सहज क्रियाओं में एवं सम्मोहन की अवस्था में प्रकट होता है। अचेतन मन समुद्र में तैरते हुए बर्फ के डूबे हुए 9/10 भाग के समतुल्य है। मन का यह भाग चेतन मन द्वारा लगाये गये प्रतिबन्धों, अवरोधों एवं अंकुशों के कारण छिप-छिप कर व्यक्त होता है। यह मन अकारण किये जाने वाले कार्यों का संचालक है, जैसे-तिनके तोड़ना, नाखून चबाना, पैर हिलाना, चाबी का गुच्छ हिलाना आदि। फोबिया, दुश्चिन्ता, घोर नैराश्य, घोर उदासी, कुण्ठा, पागलपन एवं अन्य सभी प्रकार की मनोविकृतियों का प्रधान कारण, संचालक एवं प्रेरक यही मन है।

मन की संरचना के गत्यात्मक पक्ष की दृष्टि से भी इसे तीन स्तर में विभाजित किया जाता है।

1. इदम् (ईड) - यह अचेतन मन का स्तर है। इसका स्वभाव है कैसे भी इच्छा की पूर्ति। यह मन एवं चेतन का निकृष्टतम स्तर है। बच्चे के हठपूर्ण व्यवहार एवं अपराधियों में इसका प्राधान्य होता है। यह मनुष्य की पाषाणिक अवस्था का प्रतिनिधि है।
2. अहम् (इगो) - यह मन के चेतन स्तर का स्वामी, संचालक

एवं नियामक है। अहम् पूर्णतः नैतिक एवं शुद्ध नहीं होता है। इसमें बाह्य विश्व के प्रतिबन्ध एवं इदम् की निर्बन्ध स्वच्छन्दता के मध्य एक समझौता, समायोजन एवं सामन्जस्य बना रहता है। इदम् के विकसित होने पर ही अहम् का उदय होता है।

3. परम अहम् (सुपर इगो) – यह अहम् का भी नियन्त्रक एवं स्वामी होता है। यह इदम् को स्वेच्छाचार नहीं करने देता है। यह अपरिवर्तनीय दृढ़ संकल्पों वाली उच्च चेतना है। अहम् के विकसित होने पर ही परम अहम् का उदय होता है। इदम्, अहम् तथा परम अहम् के संस्कार भी इन तीनों के अनुसार ही होते हैं। इदम् के संस्कार जहाँ निकृष्टतम, असमाजोपयोगी, अनियंत्रित, अनैतिक, पाशविक एवं मनोविकार के कारण होते हैं, वहीं अहम् के संस्कार मध्यवर्गीय होते हैं। यह समाजोपयोगी, मिश्रित एवं सामन्जस्यवादी होते हैं। परम अहम् के संस्कार नैतिक, सामाजिक, विश्व-हितैशी, उच्च विचारों से ओत-प्रोत, धर्म, नैतिकता, पाप-पुण्य एवं न्याय-अन्याय को मानने वाले होते हैं।

मनोविज्ञान की दृष्टि से विचार करें तो संस्कार मन में प्रस्थापित आदर्श हैं जो जीवन व्यवहार के नियामक और प्रेरक होते हैं। मनुष्य अपने जीवन में सत्-असत् का निर्णय इन आदर्शों के आधार पर करता है। मनुष्य को मानवोचित गुण-कर्म-स्वभाव की प्रेरणा इन्हीं संस्कारों की देन है। अवचेतन मन संस्कार नामक इस बीज का क्षेत्र है और अनुकूल परिवेश उसका हवा-पानी तथा धूप है। इस प्रकार अवचेतन मन में प्रतिष्ठित संकल्प का नाम संस्कार है। इस संकल्प में अपरिमित संभावनाएँ निहित होती हैं।

संस्कारों की संख्या के विषय में स्मृतिकारों में मतभेद है। गौतम ने चालीस संस्कारों एवं आत्मा के आठ शील-गुणों का वर्णन किया है।⁵ अंगिरा ने पच्चीस तथा स्मृतिकार व्यास ने सोलह संस्कार बतलाए हैं। अधिकतर सोलह संस्कार संपन्न करने का अन्तर्निवेश ही प्राप्त होता है। मनुस्मृति के कुछ भाष्यकारों ने भी सोलह संस्कारों की बात कही है। विविध ग्रन्थों के आधार पर सोलह संस्कार ही समाज में मान्य हैं।

'हिन्दू-धर्मकोश' ने वानप्रस्थ एवं संन्यास को संस्कार न मानकर विद्यारम्भ तथा कर्णवेध दो अन्य संस्कार बतलाए हैं।

1. गर्भाधान – स्त्री का गर्भधारण परिवार में सुखद एवं आह्लादक होता है क्योंकि नारी की महत्ता मातृत्व में ही है। सृष्टि के विकास क्रम को पुष्ट करने की दृष्टि से शास्त्र ने अत्यधिक सतर्कता का निर्देश दिया है। गर्भाधान संस्कार का विधान इस उद्देश्य से किया गया है कि माता-पिता दोनों संतान उत्पन्न करने में समर्थ हों। मनोवैज्ञानिकों ने यह सिद्ध कर दिया है कि गर्भाधान के समय पति-पत्नी के हृदय में जिस प्रकार के विचार होते हैं, उनके हृदय और अन्तःचक्षु के सम्मुख जो चित्र होता है, भावी शिशु उन्हीं सब के प्रतिबिम्ब को लेकर जन्म लेता है। इसी कारण आधुनिक चिकित्सक गर्भिणी स्त्री के कक्ष में

सुन्दर चित्र रखने तथा खुश रहने की सलाह देते हैं।

2. पुंसवन – स्त्री में गर्भाधान के चिह्न प्रकट होने पर दूसरे या तीसरे मास पुत्रोत्पत्ति के उद्देश्य से यह संस्कार किया जाता है। वस्तुतः यह संस्कार भ्रूण पुष्टि के लिए किया जाता है।
3. सीमन्तोन्नयन – इस संस्कार के पति गर्भस्थ शिशु के स्वास्थ्य की कामना करता हुआ अपनी पत्नी के बालों को संवारता है। सौभाग्यवती स्त्रियाँ गर्भिणी को आशीर्वाद देती हैं। यह चौथे, छठे या आठवें मास में किया जाता है— “चतुर्थे गर्भमासे सीमन्तोन्नयनम्।” इसका मुख्य प्रयोजन गर्भिणी स्त्री के मन को संतुष्ट करना, शरीर के आरोग्य एवं गर्भ की स्थिरता की कामना है।
4. जातकर्म – यह संस्कार शिशु के जन्म के बाद नाल काटने से पहले का है। इस संस्कार में घी और शहद सोने की शलाका से शिशु को चटाया जाता है। घी बलवर्धक, शहद औषधीय गुणों से युक्त एवं सोना सौन्दर्यवर्धक होता है। इस संस्कार में पिता शिशु को आशीर्वाद देता है। उसका सिर सूंघता है और कहता है कि मेरे अंग-अंग से तुम्हारा जन्म हुआ है। हृदय से तुम उत्पन्न हुए हो। तुम पुत्र नाम से मेरी आत्मा हो, सौ वर्ष तक जीवित रहो— “अंगादंगात् सम्भवसि हृदयादधिजायसे। आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम्।” इस प्रकार पिता के संबंधों एवं वात्सल्यमयी भावनाओं में इस संस्कार से वृद्धि होती जाती है।
5. नामकरण – नाम व्यक्ति की पहचान है। जन्म के दसवें, बारहवें या किसी शुभ दिन बालक का नामकरण संस्कार किया जाता है।⁶ जीवन में नाम का बहुत प्रभाव पड़ता है। अतः बहुत सोच-विचार कर सुन्दर, सार्थक, मांगलिक एवं प्रभावशाली नाम रखना चाहिए। नाम को शुभ का वाहक एवं भाग्य का कारण बतलाया गया है।
6. निष्क्रमण – इस संस्कार में जन्म से दूसरे या चौथे मास में बालक को पहली बार सूर्यदर्शन के लिए घर से बाहर निकालते हैं। इस संस्कार के समय बालक को अपने बड़ों का आशीर्वाद मिलता है— “चतुर्थे मासि कर्तव्यं शिशोर्निष्क्रमणं गृहत्।”⁷ सुखद वातावरण एवं सूर्य का समुचित प्रकाश आवि की प्राप्ति इसका उद्देश्य है।
7. अन्नप्राशन – पांचवें से आठवें महीने के बीच बालक को विधिवत् अन्नयुक्त भोजन कराया जाता है। मनु एवं आश्वलायन ने भी छठे माह में अन्नप्राशन का आदेश दिया है— “शशठेनप्राशनं मासियद्देशं मंगलं कुले।”⁸ यह जातक की दैहिक पुष्टि एवं संवर्धन के लिए है।
8. चूडाकर्म या मुंडन – प्रथम बार बालक के सिर के बाल उतारने को चूडाकर्म संस्कार कहा जाता है। संभवतः माता के गर्भकाल से चले आने के कारण शुद्धता एवं पवित्रता की दृष्टि से इन्हें पूरी तरह हटा दिया जाता है। विभिन्न

धर्मशास्त्रों में प्रथम या तृतीय वर्ष में मुण्डन करने पर जोर दिया गया है।¹⁰

9. उपनयन या यज्ञोपवीत – उपनयन का अर्थ है समीप ले जाना। जब बालक को गुरु के समीप ले जाते हैं तब गुरु उसका उपनयन संस्कार करते हैं। वास्तव में यह बालक को शिक्षा प्राप्त करने के लिए मानसिक रूप से तैयार करने की आधारभूमि है।¹⁰
10. वेदारम्भ – इस संस्कार का मुख्य उद्देश्य है गुरु के पास बैठकर वेदों का अध्ययन प्रारम्भ करना।
11. केशान्त – मनु के अनुसार ब्रह्म, क्षत्रिय एवं वैश्य को क्रमशः सोलह, बाइस एवं चौबीस वर्ष में केषान्त कर्म का विधान है, किन्तु इन दिनों यह संस्कार प्रायः नहीं होता।
12. समावर्तन – विद्या प्राप्त करने के बाद घर लौटने के समय यह संस्कार किया जाता था। इसके बाद व्यक्ति को गृहस्थाश्रम में जाने का विधान था। यह गुरुकुल में या आचार्य के घर किया जाने वाला संस्कार था। इसके बाद व्यक्ति विवाह के लिए मानसिक रूप से तैयार हो जाता था। इसके पूर्व उसे विद्याध्ययन एकाग्रतापूर्वक करने की व्यवस्था थी। सामाजिक दायित्वों से उसे मुक्त रखा जाता था।
13. विवाह – स्त्री एवं पुरुष के संबंधों को सामाजिक मान्यता प्रदान करने वाला संस्कार ही विवाह है। यह संस्कार गृहस्थाश्रम में प्रवेश की अनुमति देता था और 25 वर्ष के बाद किया जाता था। मानव जीवन का यह सबसे महत्वपूर्ण संस्कार है। विवाह संस्कार की सप्तपदी में सम्यक्-दृष्टि, सम्यक्-ज्ञान, एवं सम्यक्-आचार की शिक्षा है।
स्त्री-पुरुष के अन्तःकरण की मलिन भावना को दूर करके उनमें संयम, एक दूसरे के प्रति विशुद्ध अनुराग, समर्पण आदि का आधान करना ही विवाह संस्कार का उद्देश्य है। स्त्री और पुरुष को मिलाकर एक रूप बना देने के कारण गृहस्थाश्रम सुचारु रूप से चलता है। यहाँ 'विवाह' मनमाना शारीरिक संबंध मात्र न रहकर एक मनोवैज्ञानिक दृढ़ संबंध माना जाता है जो जन्म-जन्मान्तर तक बना रहता है।
14. वानप्रस्थ – आयु के पचास वर्षों तक धर्म, अर्थ और काम का सदाचारपूर्वक संचय करने के बाद संन्यास संस्कार की भूमिका के रूप में वानप्रस्थ-संस्कार का विधान है। अनासक्ति एवं निःस्पृहता इस संस्कार का आधार है। संयम की इसमें मुख्य भूमिका है।
15. संन्यास – इस संस्कार से त्याग एवं अनासक्ति का भाव उदित होता है। यह आत्मा से परमात्मा को मिलाने का काम करता है।
16. अन्त्येष्टि – यह मानव का अंतिम संस्कार है। प्रारम्भिक संस्कार जहाँ ऐहिक जीवन को पवित्र और सुखी बनाने के

लिए किए जाते हैं, वहाँ यह अंतिम संस्कार परलोक के लिए किये जाते हैं।

आज सुसंस्कृत संस्कृति की आवश्यकता सर्वत्र अनुभव की जा रही है। इटली में मेंडले नामक विद्वान् ने संस्कार शास्त्र पर आधारित शास्त्र की नींव डाली, जिसे 'यूजेनिक्स' कहा गया। इंग्लैण्ड के विद्वान् 'सर फ्रानिक्स गाल्टन' ने अपनी सम्पत्ति का बड़ा भाग लंदन विश्वविद्यालय के इस क्षेत्र में शोध के लिए दिया।

इस क्षेत्र में शोध कर रहे विद्वानों का कहना है कि संतति को सुसंस्कारी एवं शालीन बनाने में प्रत्यक्ष उपदेशों एवं प्रशिक्षणों का कम तथा धार्मिक संस्कारों का अधिक योगदान है। मनोवैज्ञानिकों का ध्यान धार्मिक संस्कारों की ओर आकर्षित हुआ है। 'यूजेनिक्स' के शोध में लगे वैज्ञानिकों ने विश्वभर में प्रचलित सभी धर्म सम्प्रदायों में किए जाने वाले संस्कारों का गहन अध्ययन किया। हिन्दू धर्म के संस्कारों की पृष्ठभूमि बहुत सूझ-बूझ से बनी है। इसमें व्यक्तित्व के समग्र विकास की पूरी-पूरी सम्भावना है।¹¹

संस्कार जीवन के विभिन्न अवसरों को महत्व और पवित्रता प्रदान करते हैं। वे इस विचार पर बल देते हैं कि जीवन के विकास का प्रत्येक चरण केवल शारीरिक क्रिया नहीं है अपितु उसका संबंध मनुष्य की बौद्धिक, भावात्मक, आत्मिक एवं संवेदनशील अभिव्यक्ति से है, जिनके प्रति मनुष्य को सदैव जागरूक रहना चाहिये। संस्कार ही सदाचार की नींव हैं। संस्कार जीवन के प्रत्येक भाग को व्याप्त कर लेते हैं। जन्म से पूर्व तथा मृत्यु के बाद भी संस्कार साथ ही रहते हैं।

संदर्भग्रन्थ सूची:

1. गोयल प्रीतिप्रभा – भारतीय संस्कृति, पृ. 63, प्र. राजस्थानी ग्रंथागार, जोधपुर।
2. काणे पी.वी. – धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ. 176, प्रथम भाग, प्र.-उ.प्र. हिन्दी संस्थान, चतुर्थ संस्करण, 1992।
3. जैमिनी सूत्र 3/1/3 पर शबर टीका।
4. धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ. 176, पूर्वाक्त।
5. गौतम धर्मसूत्र 8/8, वशिष्ठ धर्मसूत्र 4/1, आपस्तम्ब धर्मसूत्र 1/1।
6. छन्दोग्योपनिषद् 4/16/1-2।
7. मिश्र पण्डित श्रीगंगाधर – वैदिक एवं वेदोत्तर भारतीय संस्कृति, पृ. 30, प्र.- चौखम्बा सुर भारती प्रकाशन, वाराणसी, प्र.सं. 1981।
8. मनुस्मृति 2/27-28।
9. याज्ञवल्क्य 1/13।
10. गोयल प्रीतिप्रभा – भारतीय संस्कृति, पृ. 65, प्र. राजस्थानी ग्रन्थागार जोधपुर, चतुर्थ संस्करण, 2011।
11. शर्मा डा. कालूराम एवं व्यास डॉ. प्रकाश – भारतीय

सभ्यता एवं संस्कृति का इतिहास, प्र. – पंचशील प्रकाशन
जयपुर, प्रथम संस्करण, 2004।

12. धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ. 177, पूर्वोक्त।
13. धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ. 177, पूर्वोक्त।
14. धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ. 178, पूर्वोक्त।
15. गोयल प्रीतिप्रभा – पृ. 66, पूर्वोक्त।
16. मनुस्मृति 2/32।
17. मनुस्मृति 2/36 पूर्वार्द्ध।

18. मनुस्मृति 2/31 एवं 2/36 का उत्तरार्द्ध।

19. मनुस्मृति 2/37।

20. मनुस्मृति 2/38।

21. सोनी ओमप्रकाश – भारतीय संस्कृति और संस्कार,
कल्याण पत्रिका, पृ. 190, वर्ष 80 संख्या-1, संस्कार
अंक, प्र.–गीताप्रेस गोरखपुर, जनवरी 2006।



संस्कृत साहित्य में सामाजिक समरसता के स्वर

संजीव कुमार लवानिया

असि. प्रो., समाजशास्त्र विभाग, श्री के.एल. शास्त्री डिग्री कॉलेज,

जगनेर (आगरा)

कु. ऋतु दीक्षित

शोध छात्रा, संस्कृत विभाग, डी.ई.आई. डीम्ब यूनिवर्सिटी दयालबाग, आगरा

सामाजिक समरसता साहित्य का प्राणभूत प्रयोजन है। क्योंकि समाज समरसता से ही जीवित रह सकता है, अतः साहित्य का यह पावन धर्म है कि समाज को संगठित रखने के उपदेश के साथ-साथ उसे पारस्परिक सद्भाव, प्रेम, करुणा तथा मैत्री का पाठ भी पढ़ाये। समस्त संस्कृत वाङ्मय इस सामाजिक समरसता की भावना से अनुप्राणित है। संस्कृत साहित्य शास्त्र के सभी प्रमुख आचार्यों ने काव्य के प्रयोजनों का निर्धारण करते हुए पारस्परिक समरसता पर बल दिया है। आचार्य मम्मट ने अपने ग्रन्थ काव्य प्रकाश में कहा है—

“काव्यं यशरोऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।

सद्यः परिनिर्वृत्तये, कान्तासम्मित तयोपदेश युजे ॥”¹

अर्थात् काव्यांश और अर्थ प्रदायक होने के साथ कर्तव्य का सरस शैली में बोध कराता है। काव्य परम आनन्ददायक होता है और शिवेतर का नाश करता है। अर्थात् लोक मंगल का जनक होता है। समाज के लिए सर्वाधिक अनिष्टकारी तत्व पारस्परिक वैमनस्य ही होता है। अतः साहित्य का दायित्व है कि वह समाज को आनन्द सागर में अवगाहन कराये। समाज के सभी प्राणी पारस्परिक सौहार्द के रसायन का छक्कर पान करें। आचार्य भरत ने अपने नाट्यशास्त्र² में भी काव्य प्रयोजन के सन्दर्भ में स्पष्ट निर्देश किया है कि साहित्य समाज के प्रत्येक प्राणी के लिए सुख-शान्ति एवं समरसता का विधान करने वाला होता है। अब विचारणीय तथ्य यह है कि संस्कृत कवियों ने इस आदर्श का निर्वाह किस रूप में किया है।

वेद में सर्वत्र मानव जीवन की निष्कलुशता, सरलता तथा समरसता का भाव सन्निहित है। ऋग्वेद के सूक्तों में जिन प्राकृतिक शक्तियों को देवता के रूप में प्रतिष्ठित कर स्तवन किया गया है, उसका निष्कर्ष सामाजिक समरसता ही है। पुरुष सूक्त³ के अनुसार सृष्टि के मूल में जिस विराट् पुरुष की सत्ता मानी गयी है, वही परमात्मा है। समस्त चराचर जगत् उसी विराट् पुरुष के एक अंश से निर्मित है। इस आभास के रहते हुए निश्चय ही सभी प्राणी किसी भी कटुता से दूर ही रहेंगे। इस दृष्टि से अथर्ववेद का पृथ्वीसूक्त⁴ भी बड़ा ही मनोहारी है। महर्षि अथर्वा कहते हैं कि—यह पृथ्वी भूत, वर्तमान और भविष्य की रक्षा करने वाली है। इसमें राष्ट्रप्रेम, मानव-प्रेम और जीव-प्रेम की भव्य भावना भरी है। यह औषधियों को धारण करती है। इस पृथ्वी पर समुद्र, नदियाँ, जल तथा प्रचुर अन्न है। इस पर अनेक विध रसायन, मणि, माणिक्य सुवर्ण आदि प्रकट होते हैं। मेघ समुद्र से जल लाकर वर्षा द्वारा पृथ्वी के आह्लादित कर कृषि योग्य बनाते हैं। यह हमारी पृथ्वी सदा सम्पत्ति को प्राप्त करें और हमें सम्पत्ति प्रदान करती रहे। हमारे शत्रुओं का नाश करें। यह पृथ्वी हम लोगों को अन्न-जल-दान से पुष्ट करती है। इस पृथ्वी पर अनेक ऋषि, महर्षि और आचार्यों ने उत्पन्न होकर यज्ञ और तप के आचरण से इसे सुप्रतिष्ठित किया है। मनीषी तथा देवगण निरालस्य भाव से अपने विज्ञान बल से इसे सविभूषित करते हैं और समृद्ध बनाते हैं। यह पृथ्वी हमारे राष्ट्र की कान्ति, बल, ओज और प्रकाश का स्तम्भ है। ऐसे प्रखर राष्ट्रवाद के समवेत स्वर से ऋषि पुकार उठता है—

‘माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः ।’⁵

वैदिक साहित्य की ऐसी भव्य भावनाएँ समाज को समरसता के सूत्र में पिरोने में सर्वथा सक्षम हैं। यही पवित्र सन्देश वेद की चारों संहिताओं में सन्निहित हैं। इनमें ऋग्वेद का ‘संज्ञानसूक्त’ तथा शुक्ल यजुर्वेद का शिव संकल्प सूक्त उल्लेखनीय हैं।

ऋषि कहता है—

“संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनासि जानताम् ।

देवा भागं यथा पूर्वं संजानाना उपासते ॥”⁶

अर्थात् हम सब एक साथ मिलकर चलें, समान बोलें, समान विचार रखें तथा एकमत होकर अपने कर्तव्य का पालन करें। हमारी स्तुति समान हो, प्राप्ति समान हो और चित्त भी एक समान हों। हमारा संकल्प समान हो, हमारा हृदय समान हो और विचारधारा समान हो।

इस सामरस्य की भावना से अनुप्राणित ऋषि को सृष्टि का कण-कण मधुमय प्रतीत होने लगता है। समस्त प्रकृति में उसे माधुर्य की अनुभूति होती है। वायु, नदियों, समुद्रों, गायों, आकाश, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र – इन सबकी मधुमयता मानव तथा मानवेतर प्राणिवर्ग के लिए भावात्मक एकता का श्रेष्ठतम सोपान है। ऋषि कहता है—

“मधुवाता ऋतायते मधु क्षारन्ति सिन्धवः ।

मध्वीर्नः सन्तवीषधीः ॥

मधुनत्तमुतोषसी मधुमत्पार्थिवं रजः ।

मधुघीरस्तु नः पिता ॥

मधुमात्रो वनस्पतिर्मधुमाँ अस्तु सूर्यः ।

माध्वीर्गावो भवन्तु नः ॥”⁷

मन्त्रदृष्टा कवि का कितना स्वस्थ आशय है। समाज समान भाव से प्रकृति के रसमय अवदान का उपयोग करता है। विघटित और खण्डित समाज इस अनुभूति के सुख से सर्वथा वंचित ही रहता है। वेदों के उपरान्त उपनिषद् साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि भी इस तारतम्य में विचारणीय है। उपनिषदों का आध्यात्मिक चिन्तन पारलौकिक भावनाओं से अनुप्राणित होते हुए भी सामाजिक जीवन की समरसता का सूत्रधार है। ब्रह्म का स्वरूप निरूपण हो या माया की शक्तिका विलास, संसार का मिथ्यात्व हो या परमात्मा की सत्यता— यह शाश्वत चिन्तन प्रत्येक प्राणी को यह सोचने को विवश करता है कि इस नश्वर संसार में परस्पर अनुराग रखना ही सार्थक है। दर्शन मानव की जीवन शैली को परिष्कृत करता है। उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और श्रीमद्भगवद्गीता को ‘प्रस्थानत्रयी’ के रूप में जाना जाता है। भारत के सभी आचार्यों ने प्रायः इसी प्रस्थानत्रयी के प्रकाश से सत्य का अन्वेषण किया है।

भारतीय दर्शन की विभिन्न पद्धतियाँ, चाहे वे आस्तिक हों या नास्तिक, उपनिषद् की ज्ञान धारा के पावन पीयूष को पाकर ही पल्लवित हुई हैं। उपनिषद् सभी अध्यात्म चिन्तकों के लिए सम्बल प्रदान करने वाली अक्षय निधि है। पाश्चात्य विद्वान् शोपेनहर ने सत्य ही कहा है कि सारे संसार में ऐसा कोई स्वाध्याय नहीं है, जो उपनिषदों के समान उपयोगी और उन्नति की ओर ले जाने वाला

हो। वे उच्चतम बुद्धि की उपज हैं। एक दिन अवश्य ही ये समूची मानवता के धर्म बनेंगे।

उपनिषदों में प्रतिपादित वेदान्तदर्शन हमें सार्वभौमिकता की ओर प्रेरित करता है, इसके विभिन्न सिद्धान्त आज के युग की बौद्धिकता एवं वैज्ञानिकता के अनुकूल ही हैं। प्रजातांत्रिक, सामाजिक समरसता की पृष्ठभूमि भी इन्हीं सिद्धान्तों पर निर्भर है। वेदान्त वस्तुतः तत्वज्ञान को प्रकाशित करता है और बुराइयों को समूल नष्ट करने में सफल है। ईशावास्योपनिषद्— ब्रह्मवेत्ता की अभेददृष्टि का वर्णन करते हुए कहता है—

“यस्तु सर्वाणि भूतानि, आत्मन्येवानुपश्यति ।

सर्वभूतेषु चाऽऽत्मानं, ततो न विजुगुप्सते ॥”⁸

अतः परमात्म चिन्तन आत्मशुद्धि के द्वारा दृष्टिकोण को विराट् बनाता है। संकीर्णता व घृणा जैसी तुच्छतायें स्वतः समाप्त हो जाती हैं। वह सोचता है—

“ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत् ।

तेन व्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥”⁹

अर्थात् इस संसार में सब वस्तुएं ईश्वर की हैं। उनका त्यागपूर्वक भोग करो। लोभ मत करो। यह त्याग पूर्वक भोग का आख्यान सामाजिक समरसता का बीज है; जिसमें परदुःखकातरता के साथ-साथ परहितसम्पादन की उत्कट भावना सन्निहित है। श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है कि समरसता अथवा समदृष्टि ही पाण्डित्य का लक्षण है। मानव-मानव के मध्य ही नहीं, मानव तथा मानवेतर प्राणी में भी हमारी समदृष्टि होनी चाहिए। गीता कहती है—

“विद्या विनय सम्पन्ने, ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।

शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥”¹⁰

रामायण और महाभारत दोनों ही संस्कृत साहित्य के आर्ष महाकाव्य हैं, जिनमें भारत की आत्मा का वास है। इन दोनों महाकाव्यों ने मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम तथा योगिराज श्रीकृष्ण जैसी विभूतियों को लोकनायक के रूप में प्रस्तुत किया है। इन दोनों महाकाव्यों ने भारत में भक्तिआन्दोलन की नींव रखी। धर्म, नीति, दर्शन, संस्कृति तथा कलाओं को गहरे तक प्रभावित तथा अनुप्राणित किया। समाज को समरसता का पाठ पढ़ाया। श्रीराम सारी प्रजा के आँखों के तारे थे। भील, कोल, किरात, राक्षस, वनवासी, गिरिवासी, ऋक्ष, वानर सभी से राम का मैत्रीभाव देखते ही बनता है। राम के वन गमन के समय अयोध्या की सारी प्रजा की करुण दशा तत्कालीन सामाजिक समरसता का भव्य निदर्शन है। शबरी, निषादराज गुह, विभीषण, त्रिजटा आदि अगणित पक्षी तथा पात्र ऐसे हैं, जो राम के आदर्श चरित्र के प्रति सतत श्रद्धावनत हैं। महाकवि भवभूति ने श्रीराम के लोकाराधन व्रत का मार्मिक वर्णन किया है। एक चक्रवर्ती राजा प्रजा के सामान्य से सामान्य व्यक्तिकी भावना का इतना सम्मान करता है कि एक घोड़ी के आरोप पर अपनी पत्नी सीता का सहज ही परित्याग कर देता है। क्योंकि प्रजा की भावना का सम्मान करते हुए उन्हें सीता के त्याग में लेशमात्र भी कष्ट का अनुभव नहीं हुआ—

“स्नेहं दयां च सौख्यं यदि ना जानकीमपि ।
आराधनाय लोकस्य मुंचतो नास्ति मे व्यथा ॥”¹¹

इसी प्रकार महाकवि कालिदास, बाणभट्ट, भास, भारवि, श्रीहर्ष, अम्बिकादत्त व्यास तथा श्रीमती पण्डिता क्षमाराव के साहित्य में भी सामाजिक समरसता का मार्मिक चित्रण हुआ है। कालिदास के विख्यात नाटक अभिज्ञान शाकुन्तल में महाराज दुष्यन्त का आत्मालोचन बड़ा ही स्तुत्य है। वे ऋषियों के आगमन के कारण का अनुमान करते हैं कि कहीं ऐसा तो नहीं है कि मुझसे जाने-अनजाने कोई पाप हो गया हो और फलतः आश्रम के वृक्षों ने फल-फूल देना बन्द कर दिये हो—

“आहोस्वित् प्रसवो ममापि चरितैः विष्टम्भितो वीरुधाम् ॥”¹²

दुष्यन्त के इस आत्मालोचन में सामाजिक समरसता के प्रति उसकी उद्दाम अभिरुचि का सहज ही परिचय मिल जाता है। इसी प्रकार रघुवंश महाकाव्य में दिलीप की गोसेवा¹³ तथा रघु का सर्वस्वदान¹⁴ आदि ऐसे श्रेष्ठ प्रसंग हैं, जिनमें सामाजिक समरसता की साधना सन्निहित है। ऐसे राजाओं की प्रजा के सभी घटक समाज में आत्मसुख का अनुभव करते हैं।

महाकवि बाणभट्ट की कादम्बरी में महर्षि जाबालि का आश्रम तथा राजा शुद्रक की राजव्यवस्था सामाजिक समरसता की साधना स्थली है। तपोनिष्ठ महात्मा जाबालि के प्रभाव से समग्र समाज, सभी प्राणी, पशुपक्षी समरस होकर जीवन यापन करते हैं। कहीं भी पारस्परिक कटुता, हिंसा, शत्रुता का प्रश्न ही नहीं है।¹⁵ आधुनिक संस्कृत गद्य साहित्य में पं. अम्बिकादत्त व्यास तथा पं. क्षमाराव का गद्य साहित्य भी सम्पूर्ण समाज को चैतन्यशक्ति प्रदान करता है। विदेशी आक्रमणों से त्रस्त एवं ध्वस्त भारत की अस्मिता का चित्रण कर व्यास जी ने समूचे भारत राष्ट्र को राष्ट्र प्रेम के रस में निमग्न कर दिया है। पं. क्षमाराव की कहानियों में साम्प्रदायिक सौहार्द की अनूठी झलक देखने को मिलती है। उनकी ‘प्रेमरसोद्रेकः’ कहानी में सामाजिक समरसता का गहरा पुट है।

अस्तु, संस्कृत साहित्य ने भारतवर्ष के आदर्शों को वाणी दी है। सामाजिक समरसता हमारा आदर्श रहा है, जिसका स्पष्ट एवं

विस्तृत चित्रण संस्कृत वाङ्मय में हुआ है। वेद, उपनिषद, रामायण, महाभारत तथा समस्त परवर्ती लौकिक संस्कृत साहित्य मानव मंगल, समाज मंगल तथा राष्ट्र मंगल की प्रांजल भावनाओं के साथ-साथ विश्वमंगल की महती भावनाओं का पोषक रहा है। इसीलिए तो ऋषियों ने कामना की कि हमारा समग्र आचरण प्रीति-प्रवण बने, मधुमय बने। हम स्वयं मधुमय हो जावें। यह मधुमयता ही मानवता का श्रृंगार तथा सामाजिक समरसता का आधार है—

“मधुमन्मे निष्क्रमणं, मधुमन्मे परायणं ।

वाचा वदामि मधुमद् भूयासम् मधुसन्दृशः ॥”¹⁶

संदर्भ ग्रन्थ सूची :

1. काव्यप्रकाश : 1.2।
2. नाट्यशास्त्र : 1.113-116।
3. ऋग्वेद : 10.90।
4. अथर्ववेद : 12.1।
5. अथर्ववेद : पृथ्वीसूचक : मं.सं. 12।
6. ऋग्वेद : 10.19।
7. ईशावास्योपनिषद् : मं.सं. 6।
8. वही : मं.सं. 1।
9. श्रीमद्भगवद्गीता : 5.18।
10. वाल्मीकिरामायण : 2.4, 2.41, 2.43, 2.47।
11. उत्तररामचरितम् : 1.12।
12. अभिज्ञानशाकुन्तलम् : 5.9।
13. रघुवंश : 2.1-75।
14. रघुवंश : 5.1-76।
15. कादम्बरी : पृ. 35-40।
16. शिवराजविजय : पृ. 10-45।



महाभारत के अनुशासन पर्व में धर्म एवं दान की महत्ता

डॉ. भावना जैन

व्याख्याता

शा. श्रीमंत माधवराव सिंधिया,

स्नात्कोत्तर महाविद्यालय, शिवपुरी (मध्यप्रदेश)

महाभारत हमारे राष्ट्र का ऐतिहासिक एवं पौराणिक ग्रन्थ है। महाभारत को 'महाकाव्यों का महाकाव्य' शायद इसी आशय से कहा गया है, क्योंकि वह ऐसी आधारभूत प्रति है जिसमें कई महाकाव्यों, आख्यानो आदि को जन्म दिया है, इसका प्रमाण भारतीय भाषाओं के साथ ही विश्व की ऐसी अनेकानेक कृतियाँ हैं जिनका उपजीव्य महाभारत रहा है। संस्कृत के बाद प्राकृत और अपभ्रंश तथा अन्य भाषाओं में भी महाभारत को उपजीव्य बनाकर अनेक रचनाएँ लिखी गईं विभिन्न मतों और धर्मों के रचनाकारों ने महाभारत की कथा को अपने अनुसार ढालकर उसका अलग पाठ रचा है। स्वयं महाभारतकार द्वारा उसे धर्म शास्त्र, अर्थशास्त्र, मोक्ष शास्त्र, इतिहास, नीति शास्त्र कहकर उसके विविधोन्मुक्त रचाव का संकेत दिया गया है।

धर्मशास्त्रमिदंपुण्यमर्थशास्त्रमिदं परम् ।

मोक्षशास्त्रमिदं प्रोक्त व्यासेन मित बुद्धिना ॥

आदि पर्व में इसे इतिहास कहा गया – जयो नामेतिहासोऽयं भारतानां पतश्रचयमितिहासो महाद्भुतम् । 18 पुराणो, सारे धर्म शास्त्र (स्मृति ग्रंथ) तथा व्याकरण, ज्योतिष, छंद शास्त्र, शिक्षा, कल्प एवं निरुक्त इन छः अंगों सहित चारों वेद इन सब का जितना महत्व है। उतना ही महाभारत का भी महत्व है एक मनुष्य तो वेदज्ञ एवं अनेक शास्त्रों के जानने वाले ब्राह्मणों को सोने से मड़े हुये सींगो वाली 100 गौएँ दान करता है और दूसरा नित्य महाभारत की पुण्यमयी कथा का श्रवण करता है, दोनों को समान फल मिलता है। जिस महाभारत की स्वयं वेद व्यास ने ऐसी महिमा गायी है उसका मनोयोग पूर्वक जितना पठन पाठन होगा उतना ही जगत का कल्याण होगा। महाभारत की रचना करने में वैद व्यास जी का प्रधान उद्देश्य यही था कि स्त्रियों, शुद्र और पतित ब्राह्मण आदि जिन्हें शास्त्र वेद पढ़ने की आज्ञा नहीं देते वह लोग भी वेद के ज्ञान से वंचित न रह जायें इसी अभिप्राय से महाभारत के महात्म्य के श्लोकों में यह बात कही गयी है कि अकेले महाभारत के पढ़ लेने से ही वेद, वेदांग, पुराण एवं धर्म शास्त्रों का ज्ञान हो सकता है। इससे वेदों को नीचा बतलाना ग्रंथ कार्य का अभिष्ट नहीं है। वस्तुतः महाभारत में जो कुछ कहा गया है उसका आधार तो हमारे सर्व मान्य वेद और स्मृतियाँ ही हैं। वेदों और स्मृतियों का ही तात्पर्य सरल एवं रोजक ढंग से महाभारत में वर्णित है।

वास्तव में यह एक विशालकाय विश्वकोष है, जिसमें प्राचीन भारत की ऐतिहासिक, धार्मिक, नैतिक और दार्शनिक आदर्शों की अमूल्य निधि संचित है। स्वयं महाभारत में ही लिखा है कि वह सर्व प्रधान काव्य, सब दर्शनों का सार, स्मृति, इतिहास, चरित्र चित्रण की खान एवं पंचम वेद है। जैसे दही में मक्खन, मनुष्यों में ब्राह्मण, वेदों में आरण्यक, औषधों में अमृत, जलाशयों में समुद्र और चतुष्पादों में गौ श्रेष्ठ है उसी प्रकार समस्त इतिहासों में यह महाभारत श्रेष्ठ है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के विषय में जो कुछ महाभारत में कहा गया है वही अन्यत्र है। जो इसमें नहीं है वह कहीं नहीं है।

धर्मं चार्यं च कामे च मोक्षे च भरतर्शभ। यदिहास्ति तदन्यत्र यत्रेहस्ति न तत् क्वचित्।¹

आश्वलायन गृह्यसूत्र में महाभारत के अस्तित्व का सर्व प्रथम प्रमाण मिलता है। आश्वलायन गृह्यसूत्र का समय ईसा से 500 वर्ष पूर्व है।² विन्तर्नित्स का अनुमान है कि अनुमान है कि ईसा पूर्व चौथी शताब्दी और ईसा की चौथी शताब्दी के बीच में महाभारत के

वर्तमान रूप का विकास किया है।⁴ इस प्रकार महाभारत की श्रेष्ठता को प्रदर्शित करते हुये वेद व्यास जी ने इसे कुल 18⁵ पर्वों में विभाजित किया है जिनका विवरण इस प्रकार है:-

महाभारत में वास्तविक रूप में उपलब्ध, उल्लेखित, संशोधित, संस्करण में

क्र.	पर्व	अध्याय	“लोक	अध्याय	“लोक
1	आदि	227	8884	218	7984
2	सभा	78	2511	72	2911
3	वन	269	11664	269	11664
4	विराट	67	2067	67	2050
5	उद्योग	185	6698	186	6698
6	भीष्म	117	5884	117	5884
7	द्रोण	170	8908	170	8909
8	कर्ण	69	4964	69	4900
9	शल्य	59	3220	59	3220
10	सौप्तिक	18	870	18	870
11	स्त्री	28	775	27	775
12	शान्ति	329	14732	339	14525
13	अनुशासन	146	8000	154	7796
14	अश्वमेध	103	3320	133	3320
15	आश्रमवासिक	42	1506	42	1506
16	मौसल	8	320	8	300
17	महाप्रस्थानिक	3	320	3	120
18	स्वर्गारोहण	5	209	5	200

महाभारत के 18 पर्वों में से 13 वॉ अनुशासन पर्व जो कि धर्म एवं दान पर्व के नाम से भी विख्यात है। क्यों कि इस पर्व में धर्म से सम्बन्धित सभी विषयों एवं सभी प्रकार के दानों का विस्त्रित विवेचन है। भारतीय संस्कृति में चार पुरुषार्थों का वर्णन है। जिसमें प्राथमिकता धर्म को दी गयी है। महाभारत में धर्म शब्द की व्युत्पत्ति ‘धृ’ (धारण करना) नामक धातु से सम्बद्ध है। इसलिये धर्म का अर्थ है वह वस्तु जो समस्त विश्व को धारण कर रही है। अर्थात् समस्त वस्तुओं का मूलाधार है, और समाज की एकता को मूर्तिमान करती है, महाभारत के कर्ण पर्व में धर्म को परिभाषित करते हुये कहा गया है- “धारणाद् धर्म इत्याहुर्धर्मो धार्यते प्रजा” इसलिये कणाद् मे धर्म को उन्नति एवं उत्कर्ष का कारण माना है- “यतोऽभ्युदय निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः”⁶ धर्म को एक धारक तत्व मान लेने पर इसकी महत्ता अपने आप स्पष्ट हो जाती है क्योंकि धर्म एक ऐसी वस्तु बन जाता है जो सम्पूर्ण विश्व का प्राण माना जा सकता है। बौद्ध भिक्षु यू धिलिल ने धर्म की व्याख्या इसी ढंग से की है- सूर्य, चन्द्र, पुष्य, पवन, सरिता, पावक, अन्न सभी

अपना - अपना धर्म निभा रहे है, इसलिये जीवन चल रहा है। जगत स्थित है। जिस दिन सूर्य अपना कार्य नहीं करेगा, अग्नि अपना दाहक धर्म खो देगी उस दिन विश्व का अस्तित्व रह ही नहीं सकेगा। ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी में धर्म को कुछ इस प्रकार समझाया गया है “Recognition on the part of man of unseen higher power as having control of his destiny and as being in entitled to obedience leeverence and worship**.”⁶

महाभारत की धर्म संबंधि उक्ति में साम्प्रदायिक सहिष्णुता को प्रदर्शित करते हुये कहा है कि -

“ धर्म यो बाधते धर्मो न स धर्मः कुधर्म तत्।
अविरोधात् तु यो धर्मः स धर्मः सत्यविक्रम” ॥⁷

अर्थात् - धर्म वही है जो किसी धर्म का विरोध नहीं करता जो धर्म किसी दूसरे धर्म का विरोध करता है वह कुधर्म है।

ईश्वर पर विश्वास करने वाला व्यक्ति एक ऐसी शक्ति पर विश्वास करता है जिसमें सभी वस्तुओं का निर्माण किया है जो सर्व

समर्पण है तथा कल्याणकारी गुणों का मूर्त स्वरूप है वही सभी प्रकार के बुरे कामों के लिये दण्डित करता है तो अच्छे कामों के लिये पारितोषिक भी प्रदान करता है। धर्म न तो ऐसे दर्शन का नाम है जिससे समझा नहीं जा सकता और ना ही उन व्यर्थ के आडम्बरो का नाम है जिनको अधिकांश लोग गलती से धर्म का नाम देते रहते हैं सब का कल्याण ही पूजा है और अपने अहम को मिटा कर ईश्वर के चरणों में स्वयं को न्यौछावर कर डालना ही धर्म है अनुशासन पर्व के 20 वें अध्याय में धर्म की महत्ता को वर्णित करते हुये कहा गया है कि—

तैस्तच्छरीरमुत्सृष्टं धर्म एकोऽनुगच्छति।

तस्माद् धर्मः सहायष्व सेवितव्यः सदानुभिः ॥ 10

वे पारिवारिक जन तो उसके शरीर को छोड़कर चले जाते हैं तब एक मात्र धर्म ही उस जीव आत्मा का अनुसरण करता है। अतः धर्म ही सच्चा सहायक है इसलिये मनुष्यों को सदा धर्म का ही सेवन करना चाहिये।

वैदिक वाङ्मय में दान को धर्म का एक रूप ही माना गया है दान और आतिथ्य का महत्व वेदों द्वारा प्रतिपादित हुआ है दान करना तीर्थ स्नान तथा वैदिक व्रत की पूर्ति से भी बढकर है। दाताओं ने जो मार्ग बना दिया है मनीषी लोग उसी का अनुसरण करते हैं। दानदाता प्राणदाता समझे जाते हैं, उन्हीं में धर्म प्रतिष्ठित ही दानकृद्भिः कृतः पन्थ येन यान्ति मनीषिणाः

ते हि प्राणस्य दातारस्तेशु धर्मः प्रतिष्ठितः ॥ 11

1. दान का अर्थ :— दान का शब्दिक अर्थ देने की क्रिया है। सभी धर्मों में सुपात्र को दान देना परम कर्तव्य है।

2. दान के प्रकार :— सात्त्विक राजस्व तामस् इन भेदों से दान तीन प्रकार का कहा गया है जो दान पवित्र स्थान में और उत्तम समय में ऐसे व्यक्ति को दिया जाता है। जिसने दाता पर किसी प्रकार का उपकार न किया हो वह सात्त्विक दान है अपने उपर किये हुये किसी उपकार के बदले में अथवा किसी फल की आकांक्षा से अथवा विवशतावश जो दान दिया जाता है वह राजस्व दान है। अपवित्र स्थान एवं अनुचित समय में बिना सत्कार के अवज्ञता पूर्वक एवं अयोग्य व्यक्ति को जो दान दिया जाता है वह तामस् दान कहा गया है। कायिक, वाचिक और मानसिक इन भेदों से पुनः दान के तीन भेद गिनाये गये हैं संकल्प पूर्वक जो स्वर्ण, रजत आदि दान दिया जाता है वह कायिक दान है। अपने निकट किसी भयभीत व्यक्ति के आने पर जो अभय दान दिया जाता है वह वाचिक दान है और ध्यान प्रभृति का जो अर्पण किया जाता है उसे मानसिक दान कहते हैं। जैन दृष्टि में दान के चार प्रकार बतलाये हैं— औषधिदान, शास्त्रदान, अभयदान, आहारदान। अनुशासन पर्व में इसके अतिरिक्त अन्य कई दानों का वर्णन मिलता है

i). विद्यादान :— जो वेदों का अध्ययन करके न्यायपरायण विषयों को विद्यादान करता है और गुरु के कार्यों की प्रशंसा करने वाला है वह स्वर्गलोक में प्रतिष्ठित होता है।

अधीत्यापि हि यो वेदान् न्यायविद्भ्यः प्रयच्छति।

गुरुकर्मप्रपंसी च सोऽपि स्वर्गं महीयते ॥ 11

ii). भू दान :— भूमिदान की श्रेष्ठता बतलाते हुये कहा गया है कि भूमि के समान कोई दान नहीं है, माता के समान कोई गुरु नहीं है, सत्य के समान कोई धर्म नहीं है और दान के समान कोई निधि नहीं है।

नास्ति भूमि समं दानं नास्ति मातृसमो गुरु।

नास्ति सत्यसमो धर्मो नास्ति दानसमो निधिः ॥ 12

iii). अन्नदान :— अन्नदान ही एक ऐसा दान है जो दाता और भोक्ता दोनों को प्रत्यक्षरूप से संतुष्ट करने वाला होता है इसके अतिरिक्त अन्य जितने भी दान हैं वे सब तो परोक्ष फल देने वाले हैं। अतः अन्न ही संसार में शरीर के बल को बढाने वाला है। अन्न के ही आधार पर प्राण टिके हुये हैं और सारे संसार को अन्न ने ही धारण किया हुआ है।

अन्नमूर्जस्करं लोके प्राणाध्वान्ने प्रतिष्ठिताः।

अन्नेन धार्यते सर्वं विष्वं जगदिदं प्रभो ॥ 13

iv). अभयदान :— सभी प्राणियों को अभय प्रदान करना, संकट के समय उन पर अनुग्रह करना और याचक को उसकी अभीष्ट वस्तु प्रदान करना यह सर्वश्रेष्ठ दान है।

अभयं सर्वभूतेभ्यो व्यसने चाप्यनुग्रहः।

यच्चभिलशितं दद्यात् तद्दानं श्रेष्ठमुच्यते ॥ 14

v). गोदान :— गौओं के गुणों का कीर्तन तथा श्रवण करना, गौओं का दान देना और उनका दर्शन करना इनकी शास्त्रों में बड़ी प्रशंसा गाई गयी है। गौ के दुग्ध आदि का सेवन सभी शारीरिक दोशों को दूर करके कल्याण करने वाला है—

कीर्तनं श्रमणं दानं दर्शनं चापि पार्थिव।

गवां प्रशस्यते वीर सर्वदोशहरं शिवम् ॥ 15

vi). जलदान :— जलदान सब दानों से महान् और बढकर है अतः जलदान अवश्य करना चाहिये।

सर्वदानैर्गुरुतरं सर्वदानैर्विधिष्यते।

पानीयं नरषादृत तस्माद् दातव्यमेव हि ॥ 16

वैदिक वाङ्मय में भी मानव को दान देने के लिये प्रेरित किया गया है। ऋग्वेद के दसवें मण्डल के 1 1 7 वे सूक्त में दान की महिमा का बखान किया गया है—

न स सखा यो न ददाति सख्ये सचामुवे सचमानाय पित्वः।

अपास्मात्त्रेयान् तदो अस्ति प्रणन्तमन्यमरणं विदिच्छेत् ॥ 17

दान का उत्तम फल प्राप्त करने के लिये सर्वप्रथम यह अत्यन्त आवश्यक है कि दान किसी सुपात्र को ही दिया जाये। वेदों एवं शास्त्रों में सुपात्र को इस प्रकार परिभाषित किया गया है कि—

3. दान पात्र :— जिस व्यक्ति को दान दिया जाता है, उसे दान का पात्र कहते हैं तपस्वी, वेद और शास्त्र को जानने वाला और शास्त्र में बतलाये हुये मार्ग के अनुसार स्वयं आचरण करने

वाला व्यक्ति दान का उत्तम पात्र है। यहाँ गुरु का प्रथम स्थान है, इसके अनन्तर विद्या, गुण एवं वय के अनुपात से पात्रता मानी जाती है इसके अतिरिक्त जमाता, दौहित्र तथा भागिनेय भी दान के उत्तम पात्र हैं। ब्राह्मण को दिया हुआ दान शङ्गुणित, क्षत्रिय को दिया हुआ दान त्रिगुणित, वैश्य को द्विगुणित एवं शूद्र को जो दान दिया जाता है। वह सामान्य फल को देने वाला कहों गया है। उपयुक्त पात्रता का परिगणन विशेष दान के निमित्त किया गया है। इसके सिवाय यदि अन्य और वस्त्र का दान देना हो तो उसके लिये उपर्युक्त पात्रता देखने की आवश्यकता नहीं है। तदर्थ बुभुक्षित ओर विवस्त्र होना मात्र ही पर्याप्त पात्रता कहीं गयी है।

प्रायः सभी धर्मों में दान के महत्व और उनसे संबंधित आस्थाओं को वर्णित किया गया है। समग्र जीवन में भी व्यक्ति किसी न किसी रूप में दान करता है। फिर चाहे वह गौदान हो, विद्या दान हो, अन्न दान हो या भू- दान हो। भारतीय परम्परा अनुसार धर्म एवं उत्सव दान एवं धर्म की संकल्पना को ही पुष्ट करते हैं यहाँ तक की जीवन पर्यन्त व्यक्ति इसी आस्था से धर्म एवं दान करता है कि उसे इहलोक और परलोक दोनों में ही सुख और आनन्द की प्राप्ति हो क्यों कि एक मात्र धर्म ही परलोक है मनुष्यों का सहायक है—

धर्म एको मनुश्याणां सहायः पारलौकिकः ।⁸

संदर्भग्रन्थ सूची :

1. संस्कृत साहित्य की रूपरेखा पृष्ठ 13 – 15।

2. आश्वलायन गृह्यसूत्र 3/4/4।
3. मैकडोनल हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर पृ. 287।
4. विन्तरनिट्स : अ हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर (आंग्लानुवाद 1927) भाग 1 पृष्ठ 475।
5. महाभारत कर्ण पर्व 69 – 59।
6. कणादसूत्र 1/1/2।
7. यू. थिअरिल : द पाथ ऑफ द बुद्ध।
8. ऑक्सफोर्ड डिक्सनरी।
9. वनपर्व 131/10।
10. अनुशासन पर्व 20 – 11।
11. द्वाविंशोऽध्याय श्लोक संख्या 13 अनुशासन पर्व।
12. पंचदशो अध्याय श्लोक संख्या 15 अनुशासन पर्व।
13. महाभारत अनुशासन पर्व पृष्ठ क्र. 1164।
14. श्लोक संख्या 65 चतुर्दशो अध्याय अनुशासन पर्व।
15. अनुशासन पर्व 14/21।
16. तदैव 13/36।
17. तदैव 14/12।
18. ऋग्वेद 10/117/4।



अलवर राज्य के सिक्के

डा. अंशुल शर्मा

व्याख्याता

एस.एस.जैन सुबोध पी.जी. महाविद्यालय, जयपुर

“इस राज्य का क्षेत्रफल 3051 वर्गमील है।” उत्तर में यह ब्रिटिश गुडगांव नामक राज्य के रावल परगने व जयपुर के कोटकासिम परगने से घिरा हुआ है, पूर्व में भरतपुर राज्य तथा गुडगांव जिला, दक्षिण व पश्चिम में जयपुर राज्य से घिरा हुआ है। सन् 1861 में इसकी जनसंख्या 7,69,796 अथवा 252 व्यक्ति प्रति वर्ग मील थी। यद्यपि प्राचीन काल का इतिहास पूर्ण रूप से क्रमबद्ध उपलब्ध नहीं है लेकिन जो भी पुराणों में उपलब्ध है उसके अनुसार इस राज्य में अनेक छोटे-छोटे शासक थे जो गत शताब्दि के मध्य तक भरतपुर व जयपुर राज्यों से सम्बद्ध थे। वस्तुतः अलवर राज्य घराने का संस्थापक एक नरुका राजपूत प्रतापसिंह था। उसने ढाई गांव के अतिरिक्त प्रदेश पर कब्जा किया, जिसमें से एक मछेरी था। “उस समय जयपुर राज्य का महाराजा अल्प वयस्क था जबकि जाट राज्य (भरतपुर) मुगल और मराठा झगड़े से जूझ रहा था। उसी समय 1771 से 1776 के मध्य प्रतापसिंह ने एक स्वतन्त्र राज्य अलवर की स्थापना की।”

प्रताप सिंह ने शासन स्थापित होने के पश्चात् दो वर्षों के अन्तराल में (1776 ई.) सिक्के जारी किये। “इस राज्य में एक ही टकसाल क्रियाशील रही। जो कि राजगढ़ में स्थित थी।” यह सिक्का 167.23 ग्रेन शुद्ध चांदी का था जिसके एक और सिक्का मुबारक बादशाह गाजीशाह आलम, दूसरी और जरब राजगढ़ सन् जुलुम मेमनत मानस लिखा होता था। राव राजा प्रताप सिंह ने रूपया, अठनी, चवनी के सिक्के चलाये थे। 1877 ई. की तिथि से रूपये से कम कीमत का कोई सिक्का नहीं निकाला गया। चार आने व आठ आने का अन्तिम सिक्का सन् 1852 में ढाला गया था। (आठ आना तथा चार आने के सिक्के के आकार हेतु देखिये (फलक: ग चित्र 2 तथा 9) (राव राजा प्रताप सिंह के सिक्के : देखिए (फलक: ग चित्र 1)

राम राजा प्रताप सिंह अपने शासन के द्वितीय वर्ष में राजगढ़ में सिक्का ढाला, जिस पर निम्न वाक्य अंकित है “सिक्का मुबारक गाजी शाह आलम विजयी सम्राट शाह आलम का शुभ सिक्का। उसके काल का 100 रूपयों का मूल्य ब्रिटिश 101.353 रूपयों के बराबर बताया गया।” राज्य की ताम्र मुद्रा पर “राव शाही टका” कहलाती है जिसके ऊर्ध्व पटल पर मुहम्मद आलम शाह बादशाह गाजी विजय शासक मुहम्मद आलम शाह लिखा है।”

प्रताप सिंह के एक द्वितीय सिक्का (फलक चित्र हुये सिक्के रूपया, आठ आना तथा चार आना के है) सिक्के के अन्तर्गत भाषा का प्रयोग वही है जो पहले सिक्के में प्राप्त हुई है। उक्त प्रकार के सिक्के बख्तावर सिंह के शासन में भी चलते थे। बख्तावर सिंह शासन काल के सिक्के लगभग राव प्रताप सिंह के शासन काल के समान चलते रहे। जिनके ऊर्ध्वपटल पर मुहम्मद बहादुर शाह बादशाह गाजी, विजयी सम्राट मुहम्मद शाह बहादुर लिखा है, इस काल में सिक्कों का वजन कुछ बढ़ा, एक सिक्का 290 ग्रेन का प्राप्त हुआ है।

बनी सिंह के सिक्के – दृष्ट्य फलग ग चित्र 5 पत्र देखें। इसके सिक्के पर “सिक्का मुबारक बादशाह गाजी मुहम्मद बहादुर शाह 1861, विजय सम्राट मुहम्मद बहादुर शाह का शुभ सिक्का” लिखा है। प्रतीक चिन्ह – बादशाह शब्द के शाह के नीचे मुबारक शब्द के पास ‘ह’ का चिन्ह दिखाई देता है। यह सिक्का शिवदान सिंह केशिवदान सिंह के काल के सिक्के – देखिए X चित्र 10. ये सिक्के सन् 1859 से आरम्भ हुए तथा 1874 तक ढाले जाते रहे। इसके काल के सिक्कों पर मलिकाह ‘मु’ आज्जम तख्ततशील दार-अत सलतनत ‘इग्लिस्तान सिक्का मुबारक सन् ई. 1869 लिखा मिला। इसके काल के सिक्कों में कई प्रकार के प्रतीक चिन्ह हमें मिलते हैं, जिसमें छाता अथवा शाही छत, एक और तीन बिन्दुओं युक्त झाड़, मुअज्जम शब्द के नीचे एक छोटा झाड़, मुबारक शब्द के ऊपर बिन्दुओं का वृत्त, इग्लिस्तान शब्द पर एक छोटा झाड़। इसके अधोपटल पर जरब राजगढ़ महाराजधिराज महाराव राज श्री सवाई शिवदान सिंह बहादुर सतह 10 जुलुस अंकित है। उसने अपने शासन काल के दसवें वर्ष में सिक्कों को ढालने का कार्य किया।

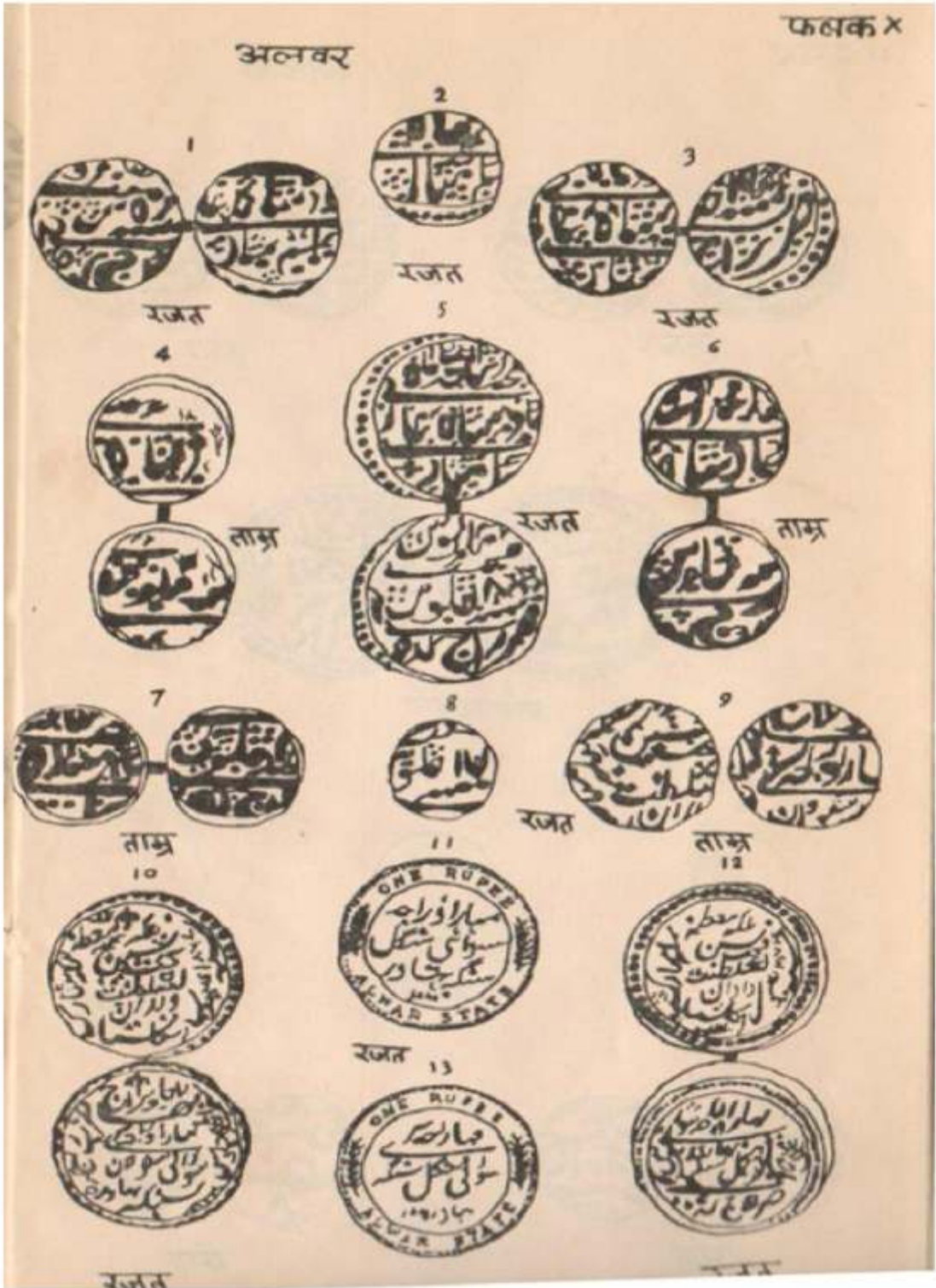
महाराजा मंगलसिंह के काल के सिक्के – महाराजा मंगल सिंह का काल 1874 से 1896 तक निर्धारित किया गया इसके काल के सिक्कों को ग चित्र 12 में देखिये। इसके सिक्के के ऊर्ध्व पटल पर कुछ तिथियाँ बदली हुई हैं। प्रतिक चिन्ह छाता नहीं ‘मु’ अज्जमह शब्द पर झाड़ नहीं मुबारक पर बिन्दुओं का वृत्त ‘इग्लिस्तान के नीचे झाड़ा झाड़ है।’ इसके अधोपटल पर महाराजा सवाई मंगल सिंह बहादुर जरब राजगढ़ सन् जुलुसा प्रथम वर्ष में ढाला गया, कुछ प्रतीक चिन्हों पर तिरछा झाड़ शब्द जुलुस के पास एक और झाड़ है। मंगल सिंह के काल के कुछ सिक्के 1872 से 1888 तक के कलकत्ता की टकसाल में भी ढाले गये। इनके ऊर्ध्वपटल पर अंग्रेजी में “विक्टोरिया रेम्प्रेस” तथा रानी का मुखों भाग वही ऊधोपटल केन्द्र में। महाराव राव सवाई मंगलसिंह बहादुर

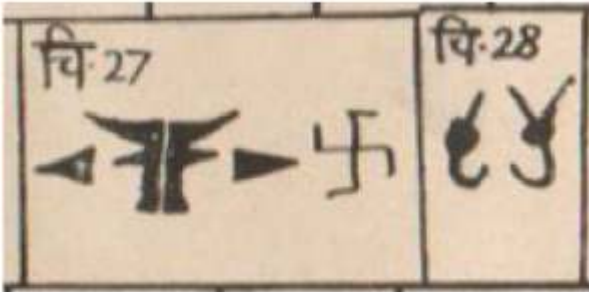
1890 किनारी में अंग्रेजी में “वन रूपो” तथा “अलवर स्टेट” लिखा है इसका वजन 15 ग्रेन के बराबर है।

एक सिक्के में महाराज श्री सवाई मंगल सिंह बहादुर लिखा है, वस्तुतः 1891 में उन्होंने महाराजा की उपाधि धारण कर सिक्कों में उसे ढाला जिसका वजन 180 ग्रेन के बराबर है।

राजगढ़ में टकसाल सन् 1772 में स्थापित की गई थी। सन् 1873 तक चांदी और तांबे के सिक्के इसके अन्तर्गत ढाले जाते रहे। वही ईस्वी सन् 1877 से कलकत्ते की अंग्रेजी टकसाल में अलवर राज्य की राज मुद्रा वाले चांदी के रूपये ढालते थे। 10 मई 1877 से राजगढ़ की टकसाल बंद कर दी गई। इसके पश्चात् अंग्रेजी कलदार का प्रचलन होता रहा। प्रिंसेप की “यूजफूल टेबल्ड” के अनुसार इन अंग्रेजी कलदारों का वजन 173.75 ग्रेन था, जिसमें शुद्ध धातु 167.23 ग्रेन होती थी। इसमें मिलावट ब्र. 11 थी। प्रिंसेस के समय ब्रिटिश 100 रूपये का मूल्य 101.353 था। राजगढ़ के सिक्कों के अतिरिक्त विनिमय दर अलग-अलग समयों में बदली हुई 1 से 7 ब्रिटिश रूपया रही लेकिन कलकत्ता में बने हुए अलवर के सिक्कों का वजन व मिश्रण ठीक वैसा ही था, जैसा ब्रिटिश रूपयों का। सन् 1877 तक व इससे पूर्व के ये सिक्के “रावशाही” कहलाते थे, जिसमें नज़ व साधारण दोनों सिक्के नियमित रूप से ढाले जाते थे। ब्रिटिश मुद्रा के रूप में इन “रावशाही” मुद्राओं का मूल्यांकन का विषय महात् विविधताओं से युक्त है। उनमें ब्रिटिश तथा अलवर के हाली रूपयों के सापेक्षिक पारस्परिक मूल्यों के अनुसार परिवर्तन आता रहा। ताम्बे के रावशाही सिक्के को विनिमय दर 16 से 28 तक बदलती रही, जबकि ब्रिटिश रूपयों की दर 2 या 3 पैसा कम थी। वस्तुतः रावशाही टका प्रताप सिंह, बख्तावर सिंह, विनय सिंह, शिवदान सिंह व मंगल सिंह के शासन काल तक चलते रहे थे। ये सिक्के अब अलवर संग्रहालय में देखे जा सकते हैं।

अलवर राज्य के प्रमुख सिक्के एवं चिन्ह





संदर्भ ग्रंथ सूची :

- 1 श्यामल दास (वीर विनोद भाग 2 पृष्ठ 1355)।
- 2 डॉ. मांगी लाल व्यास 'मयंक' (राजपूताना के सिक्के पृष्ठ 141)।
- 3 पृथ्वी सिंह नरुका - राव राजा प्रताप सिंह, पृ. 68।
- 4 डॉ. मांगी लाल व्यास, मयंक (राजपूताना के सिक्के पृष्ठ 144)।
- 5 वही पृष्ठ, 146.।
- 6 प्रिसेस की "यूजफूल टेबल्स" पृष्ठ 59.।



राजस्थान में वन एवं वन्य जीव संरक्षण में स्थानीय राजाओं के प्रयास

डॉ. एम. एल. शर्मा

उप-प्राचार्य

सनातन धर्म राजकीय महाविद्यालय, ब्यावर

मीना नरुका, शोधार्थी,

महर्षि दयानन्द सरस्वती विश्वविद्यालय, अजमेर

हमारी संस्कृति वन प्रधान रही है क्योंकि जन्म से मृत्यु पर्यन्त तक वृक्ष हमारे काम आते हैं, भूमि की उर्वरा शक्ति के संरक्षण, भूक्षरण, बाढ़ तथा भूस्खलन को रोकने में वन हमारी सहायता करते हैं। भारत आरम्भ से ही कृषि प्रधान देश रहा है। अच्छी फसल वर्षा पर निर्भर करती है तथा अच्छी वर्षा के लिए सघन वन अत्यन्त आवश्यक होते हैं। अतः अच्छी वर्षा की कामना से वनीय क्षेत्र को बनाये रखने का प्रयास हर युग में किया गया। इसके अतिरिक्त प्रकृति में वनस्पति, जीवों व सामाजिक प्राणियों के बीच संतुलन भी अवश्यभावी होता है इस तर्क ने वनों का और अधिक से अधिक विकास में सहयोग दिया।

आर्य संस्कृति से ही वनों को बचाने की कवायद शुरू कर दी गई थी इसका प्रमाण देवताओं के साथ वृक्ष विशेष को जोड़ना तथा वन्य पशुओं को भी देवताओं के वाहनादि रूप में सम्बन्धित करने से मिलते है। ऋग्वेद, जो हमारी सनातन शक्ति का मूल है वन देवियों की अर्चना करता है। 'मत्स्य पुराण' में अंकित है कि जो मनुष्य वृक्षारोपण करता है वह तीस हजार पितरों का उद्धार करता है। ऐसी ही धार्मिक परम्पराओं से वशीभूत हो वृक्ष एवं वनों को अपने अराध्य देव को समर्पित किया गया क्योंकि धार्मिक स्थल होने के कारण मनुष्य उनमें पाई जाने वाली वनस्पति तथा विचरण करने वाले जीवों को नुकसान नहीं पहुंचाते थे। ऐसी परम्पराओं को आगे बढ़ाया गया जो वन एवं वन्यजीवों को पूजनीय बनाती थी। राजस्थान में भी इन परम्पराओं का पालन हुआ। राजस्थान के राजाओं—जागीरदारों ने वन एवं वन्यजीवों की सुरक्षा के लिये समय-समय पर कई प्रयास किए जिनसे हमारी वन संस्कृति संरक्षित रह सकें।

राजाओं द्वारा अपने राज्य में मंदिरों का निर्माण तथा उसके आसपास के क्षेत्र की भूमि मंदिरों को दान करने की योजना ने वनों के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। मंदिर से सटे इन वनों को देववन, देवबाड़ी, औरण तथा देवदनी आदि नामों से जाना गया। अभिलेखीय साक्ष्यों में ऐसे कई उल्लेख मिलते हैं जो मंदिरों को राजाओं द्वारा भूमि दान करने के प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। वि.स. 665 का दधिमाता का गोठ (नागौर) में स्थित मंदिर व उसके आसपास का वन क्षेत्र¹। सांभली के राजा द्वारा अरण्यवासिनी देवी के मंदिर का निर्माण किया गया जिसके आसपास घना वनक्षेत्र है²। नाडोल के चौहान राजा लाखा (लक्ष्मण) द्वारा प्रसिद्ध नाडोल नीलकण्ठ मंदिर बनवाया गया³। जोधपुर के राव जोधाजी ने झरनेश्वर महादेव का मंदिर बनवाया तथा चिडियानाथ नामक योगी को भेंट किया। प्रतापगढ़ से प्राप्त शिलालेख के अनुसार वटयक्षिणी देवी के मंदिर को राजा महेन्द्रपाल ने वि.स. 1003 में निकटवर्ती भूमि—गाँव दान दिए। चौहान राजवंश की कुल देवी शाकम्भरी माता जिनके नाम का शाब्दिक अर्थ ही है— "शाक से भरण पोषण करने वाली"⁴। मार्कण्डेय पुराण के चण्डीस्रोत तथा वामनपुराण (अध्याय 53) में देवी के शाकम्भरी नामकरण का यही कारण बताया है, इस देवी तीर्थ का सम्बन्ध वनीय सम्पदा में वृद्धि से है। ये शक्तिपीठ वन क्षेत्र में ही स्थापित किये गये। इन मंदिरों के आसपास के क्षेत्र को "देवी की बनी" कहा गया।

जयपुर से लालसोट जाने वाले मार्ग पर बस्सी से आगे तुंगा नाम का एक छोटा सा कस्बा है जो जयपुर से लगभग 4.5 कि.मी. दक्षिणपूर्व में है यह एक समय कछवाहा शासकों के अधीन था। इसमें मंदिरों से सटी भूमि को मंदिरों को वान किया गया। प्रतापगढ़ के शासक महारावल हरिसिंह ने प्रतापगढ़ के देवलिया ग्राम में गोवर्धननाथ मंदिर, बावडी तथा वाटिका बनाई। महारावल रायसिंहने कई उद्यानों का निर्माण करवाया।

वाटिका: कति महिमृत, स्वयं करिता: कति सरोवरण्यादि।

धर्मराज दूव भूतले बभौ याचमानजनदानतत्परः।⁴

भूमिदान के अतिरिक्त अन्य प्रयास भी राजाओं द्वारा किये गये जैसे -देवगढ के कोतवाली चबूतरे के पास लगा हुआ शिलालेख उल्लेख करता है कि राजा द्वारा प्रत्येक चतुर्दशी को जानवर मारने, मांस बेचने की मनाही की गई है⁵। प्रतापगढ़ के अन्य शासक रामसिंह ने नवरात्रि में होने वाली जीव हिंसा, होली के अवसर पर होने वाले अहेडे के शिकार को रोककर अहिंसा तथा वन्यजीवों की सुरक्षा करने का संदेश दिया। नाडोल के राजा अश्वपाल के पौत्र पक्षदेव की रानी गिरजादेवी ने वि.सं. 1202 से 1207 के मध्य में या आसपास के समयकाल में चौरासी गाँव में एक अभिलेख लिखवाया था जिसमें महारानी ने ग्यारस, चौदस, अमावस्या तथा अन्य श्रेष्ठ तिथियों में जीव हिंसा को निषेध किया तथा आदेश का उल्लंघन करने वाले व्यक्ति के लिए 4 द्रम्म का दण्ड निर्धारित किया " इसी प्रकार अल्हण देव ने भी प्रत्येक मास के दोनों पक्षों की अष्टमी, एकादशी को किराडू, लाटहद और शिवकूप मण्डल में पशुवध न करने का आदेश दिया, जो पापी पशु शिकार या वध करेगा उसे पाँच द्रम्मों का दण्ड भरना होगा⁷।

मध्यकालीन राजस्थानी राजाओं को शिकार का शौक था। वे शिकार को राजकीय प्रतिष्ठा का प्रतीक मानते थे। इसके लिये उन्होने घने वन क्षेत्रों में शिकारगाह व ओदियों का निर्माण करवाया। वन क्षेत्र में शिकार की प्रचुरता की चाहत में राजाओं ने एक तरह से शिकारगाह वाले वन क्षेत्रों को संरक्षित रखा। शिकारगाहस्थित वन में आम आदमी के प्रवेश तथा शिकार करने पर रोक हुआ करती थी।

जोधपुर महाराजा द्वारा हिंगोली गाँव में शिकार पर प्रतिबन्ध लगाया। 17 वीं शताब्दी में बीकानेर रियासत ने खेजडी वृक्ष के प्रति सम्मान प्रकट करते हुए उसे राजकीय झण्डे में चिह्नित करवाया⁸। बीकानेर राज्य अभिलेखागार में बीकानेर राज्य की 17 वीं, 18 वीं सदी की बहिया मिलती है जिनमें "खेजडी री गुनहगारी" शीर्षक का उल्लेख मिलता है। इससे ज्ञात होता है कि खेजडी को काटने व पशुओं को चराने पर राज्य की तरफ से गुनहगारी वसूल की जाती थी। मेवाड महाराणा फतेहसिंह ने जंगलों का महत्व शिकार के अलावा भी समझा तथा जंगलात विभाग में एक प्रशिक्षित वन अधिकारी की नियुक्ति की। मेवाड का एक तिहाई भाग जंगलो से भरा हुआ था जो विशेषतः राज्य के उत्तर - पश्चिम व दक्षिण में था। उसमें से सिर्फ 72 मील वन क्षेत्र को शिकार के लिए सुरक्षित रखा¹¹। बाकी वन क्षेत्र में वन्य जीव

निर्मय होकर घूम सकते थे।

जोधपुर महाराजा अजीत सिंह ने एक परवाना निकाला जिसके अनुसार हरे पेड़ों को काटना निषेध था¹²। बीकानेर शासक अनूप सिंह ने विश्‌नोई जाति के गाँवों में हरे पेड़ों को काटने पर पाबन्दी लगाई। एक ऐसा ही आदेश जोधपुर शासक मानसिंह ने अपने समय में निकाला।

चरागाह क्षेत्र का भी पर्याप्त रखरखाव किया जाता था। चरागाह क्षेत्र रिजर्व किये जाते थे तथा उल्लंघन करने वाले को सजा का प्रावधान था। जमालपुरा गाँव परगना - हिंडोन में वि.स. 1785 में मछली पकड़ने पर और गाँव सरवीना, टोंक में वि.स. 1858 में मगरमच्छ को मारने पर राजा द्वारा सजा देने का उल्लेख अभिलेखीय साक्ष्यों में मिलता है।

20वीं शताब्दी में ज्यादातर बड़े राज्यों की सरकारों द्वारा "शिकार कानून"¹³ (गेम लॉ) बनाये गये। इन कानूनों में वन्य गतिविधियों से सम्बन्धित आवश्यक दिशा निर्देश होते थे। साथ ही राज्य द्वारा वन क्षेत्र में प्रवेश के लिए लाइसेंस दिए जाते थे। लाइसेंस धारक के अतिरिक्त अन्य वन में प्रवेश नहीं कर सकता था। इससे वन क्षेत्र में होने वाले अनैतिक कार्य एवं अवैध शिकार प्रतिबन्धित हो गये व वनों के अतिदोहन पर अंकुश लगा।

इस प्रकार राजाओं की धार्मिक आस्था तथा राजकीय आदेशों से वन एवं वन्य जीवों का संरक्षण होता रहा।

संदर्भ ग्रन्थ सूची :

1. ओझा - जोधपुर राज्य का इतिहास, पहला भाग, पृ.स. 43, राजस्थान ग्रन्थागार, जोधपुर, 1948 ई.।
2. डा. गोपीनाथ शर्मा - राजस्थान के इतिहास के स्रोत, पृ. स. 48 भाग 1, 1973 ई., जयपुर।
3. नाडोल अभिलेख (संवत् 1024, फाल्गुन)।
4. प्रतापगढ़ राज्य के बडवे की ख्यात, श्लोक न. 26, पृ. स. 2।
5. देवलीया (देवगढ) से प्राप्त श्रावण सुदि द्वितिया, वि. स. 1753 (ईस. 1692 तारीख 21 जुलाई) का शिलालेख।
6. महाराजा पूत (न) पक्षदेव और उनकी रानी गिरिजादेवी का रतनपुर के चौरासी गाँव के पश्चिमी द्वार के बाहर प्राचीन शिवालय की गुमटी से प्राप्त अभिलेख, समय संभवतः वि. स. 1199 से 1230 के मध्य में।
7. अल्हण देव का किराडू (बाडमेर) में अंकित संस्कृत अभिलेख, माघकृष्ण चौदस, शनिवार, वि.स. 1209।
8. राहडसाहब राम, जम्मसार 24 वां प्रकरण, पृ. स. 8, 10 वि.स. 1978 ई.।
9. डॉ. मंयक कुमार :- ब्लेम आन नेचुरल रिसोर्सेज : एक्सप्लोरिंग दि रोल ऑफ पोलिटिकल पावर इन प्री कोलोनियल राजस्थान इण्डिया, कंजर्वेशन एण्ड

सोसायटी, पृ. स. 141, वोल्यूम 3 नम्बर 1, जून 2005 ई.।

10. डॉ. गिरिजा शंकर शर्मा – इतिहास रो सांच (अभिलेखो के आधार पर आधारित शोध आलेख) पृ. स. 81, आचार्य तुलसी राजस्थानी शोध संस्थान, 2002 ई.।
11. एडमिनिस्ट्रेटिव रिपोर्ट ऑफ मेवाड स्टेट, मेवाड रेजीडेन्सी, पृ. स. 52, 1924-25 ई.।
12. अर्जदास्त, मिंगसर बदी 13, वि. स. 1754

(1697 ई.) हिस्टोरिकल सेक्शन, राजस्थान स्टेट आर्काइव्स, बीकानेर।

13. कोटा जंगल कानून 1915 ई., बांसवाडा राज्य फोरेस्ट एक्ट 1946 ई., बीकानेर फोरेस्ट एक्ट 1927 ई., भरतपुर गेम लॉ 1924 ई., घोलपुर गेम एक्ट 1919 ई. डूंगरपुर-कानून जंगल रियासत 1941 ई., मेवाड फोरेस्ट एक्ट 1942 ई. आदि।



गांधी चिन्तन में सामाजिक संगठन

प्रताप सिंह

व्याख्याता, राजकीय महिला महाविद्यालय, चौमू

प्राचीन भारत का सामाजिक ढाँचा हिन्दू धर्म ग्रंथों के अनुसार वर्णाश्रम व्यवस्था पर आधारित था। परम्परागत भारतीय सामाजिक संगठन को आधार वर्णाश्रम व्यवस्था से गांधीजी प्रभावित रहे हैं। प्राचीन भारतीय समाज के ढाँचे की संरचना वर्णाश्रम व्यवस्था के साथ-साथ जाति, विवाह, शिक्षा, भाषा आदि से हुई। परम्परागत सामाजिक संरचना में कर्म को विशेष महत्व दिया गया। वर्तमान समय में कर्म की प्रधानता प्रासंगिक है। गांधीजी के आदर्श सामाजिक व्यवस्था को प्राचीन हिन्दू धर्म ग्रंथों में प्रतिपादित वर्णाश्रम व्यवस्था के आधार पर संगठित किये जाने पर बल दिया है। गांधीजी की दृढ़ मान्यता थी कि वर्ण व्यवस्था की एक सुदृढ़ सामाजिक व्यवस्था को व्यवहारिक आधार हो सकती है। किन्तु वर्ण व्यवस्था के सन्दर्भ में समय-समय पर खामियों भ्रान्तियों का समर्थन नहीं किया। गांधीजी के अनुसार वर्ण व्यवस्था मूलरूप में समाज के सदस्यों की क्षमताओं के अनुसार उनके कर्तव्यों के विभाजन की वैज्ञानिक प्रणाली है। इसका उद्देश्य वर्णों के सदस्यों के मध्य हीनता या श्रेष्ठता के भेद उत्पन्न करना नहीं है। कर्तव्यों का व्यक्ति के प्रति चार भागों में वर्गीकरण केवल प्राचीन भारतीय ग्रंथों में प्रतिपादित स्थिति नहीं है, अपितु यह एक विश्वव्यापी प्रवृत्ति है। गांधीजी ने चारों वर्गीकरणों को स्पष्ट करते हुए कहा कि ज्ञान का सृजन व विस्तार, सुरक्षा के लिए शक्ति का प्रयोग, धन और सम्पदा का संग्रह और वितरण मानव जीवन के निर्वाह के लिए आवश्यक सेवाएँ जुटाना मानवीय गतिविधियों का एक सहज वर्गीकरण है। उनके अनुसार वर्ण व्यवस्था इन्हीं सहज प्रवृत्तियों के अनुसार ज्ञान के आदान-प्रदान करने, लोगों की रक्षा करने, कृषि और व्यवसाय को संचालित करने तथा शारीरिक श्रम के माध्यम से लोगों की सेवा करने वाले समाज के पृथक-पृथक चार वर्णों की परिकल्पना पर आधारित है। गांधीजी ने मनुष्य के कर्तव्य विभाजन की इस योजना में तीन अनिवार्य बातों का ध्यान देने पर विशेष बल दिया:—

1. वर्णों का सम्बन्ध किसी व्यक्ति द्वारा कोई विशेष गतिविधि सम्पन्न करने में उसकी स्वाभाविक दक्षता से है। अतः किसी विशेष वर्ण की सदस्यता को व्यक्ति की सामाजिक श्रेष्ठता या निम्नता का आधार नहीं बनाया जाना चाहिए।
2. क्षमताओं के अनुरूप किसी विशिष्ट वर्ण की सदस्यता किसी व्यक्ति को दूसरे वर्णों से बिल्कुल पृथ नहीं कर देती।
3. कार्य का वर्गीकरण वर्णों के पृथक्करण का आधार नहीं है, अपितु समस्त वर्णों के सदस्यों और उनकी गतिविधियों के मध्य पारस्परिक एवं सहयोग वृत्ति को सुनिश्चित करता है।

गांधीजी ने स्वीकार किया है कि मूलतः वर्ण व्यवस्था का आधार जन्म को माना जा सकता है। व्यक्ति स्वच्छ से वर्ण का परिवर्तन नहीं कर सकता। उन्होंने स्पष्ट किया कि वर्ण जन्म से प्राप्त तो हो जाता है, किन्तु उसका संरक्षण उससे जुड़े दायित्वों के पालन के द्वारा ही संभव है। ब्राह्मण माता-पिता से उत्पन्न बालक को ब्राह्मण माना जायेगा, किन्तु बड़ा होने पर वह ब्राह्मण के कर्तव्यों और सद्गुणों के अनुरूप आचरण नहीं करता, तो उसे ब्राह्मण कहना उचित नहीं है, उसे ब्राह्मण से पतित हुआ माना जाना चाहिए। दूसरी ओर ऐसा व्यक्ति जो जन्म से ब्राह्मण न हो, किन्तु अपने आचरण से ब्राह्मण के सद्गुणों को अभिव्यक्त करे तो उसे ब्राह्मण माना जायेगा, भले ही वह स्वयं उसका दावा न करे।

गांधीजी ने स्पष्ट किया कि आधुनिक समय में वर्ण व्यवस्था को पुनर्जीवित करना तभी सार्थक हो सकता है, जब सभी वर्गों से जुड़े हुए कार्यों की समानता के आधारभूत नियम को भी स्वीकार किया जाये। उन्होंने व्यक्त किया कि वर्णों के कार्यों के हीन समझे बिना यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने व्यवसाय को निष्ठापूर्वक संलग्न रहेगा तो समाज को संघर्षों और टकरावों से बचाया जा सकेगा और वर्णों के आधार पर संगठित सामाजिक व्यवस्था में एक ओर अत्यधिक लालच व सम्पत्ति का संकेन्द्र रुकेगा, वहीं दूसरी ओर लोग सौहार्दपूर्वक रहेंगे तथा छोटे-बड़े का भेद मिटेगा। गांधीजी एक सनातन हिन्दू होने के नाते वर्ण-विधन में अपनी आस्था प्रकट करते हुए आश्रम व्यवस्था में भी अपनी आस्था प्रकट करते हैं। आश्रम व्यवस्था जिस रूप में गांधीजी मानते थे, वह एक उदात्त नियम है, जिस पर चलकर समाज व्यवस्थित रूप से संचालित होता है। प्रत्येक की अपनी सीमाएँ होती हैं और ये सीमाएँ जन्मजात होती हैं। मनुष्य इन सीमाओं को तोड़ नहीं सकता। मनुष्य अपने को इन्हीं सीमाओं के अन्तर्गत विकसित कर सकता है।

गांधीजी आश्रम व्यवस्था को वर्ण व्यवस्था का सहायक मानते हैं। प्रत्येक हिन्दू को अपने जीवन उद्देश्य की पूर्ति के लिए इनसे गुजरना पड़ता है। ये चारों अवस्थाएँ विकास की सीढ़ियाँ होते हुए भी परस्पर निर्भर हैं। कोई भी कूदकर वानप्रस्थी या सन्यासी की अवस्था में नहीं पहुँच सकता, जब तक उसके प्रथम दो आश्रमों 'ब्रह्मचर्य' और 'गृहस्थ' का पालन नहीं किया है।

विवाह एक महान् तथा पवित्र संस्कार है, इसलिए विवाह तभी होना चाहिए, जब लड़का-लड़की दोनों इसके महत्त्व को तथा एक-दूसरे के प्रति अपने दायित्व को पूरी तरह से समझ सकें। विवाह की व्यवस्था को गांधीजी ने एक व्यावहारिक आवश्यकता के रूप में स्वीकार किया। उन्होंने कहा कि विवाह का उद्देश्य भोग नहीं बल्कि प्रजनन है। यह एक पवित्र संस्कार है। यह आत्मानुशासन की व्यवस्था है।

गांधीजी ने अन्तर्जातीय और अन्तसम्प्रदाय विवाह का समर्थन किया। लेकिन गांधीजी के अन्तर्जातीय विवाह के संबंध में भी गांधी के विचार अतिवादी स्थितियों का निषेध करते हैं अर्थात् वे न तो स्वार्थी और भावुक व्यक्तियों को इतनी छूट देने के पक्ष में हैं कि वे मनमानी करके समाज में अव्यवस्थाएँ फैलाएँ और न ही इतने अनुदार होना चाहते हैं कि परिवर्तनशील और विकासशील समाज जंजीरों से जकड़ सा जाये। इसलिए वे मध्य मार्ग का अनुसरण करते हैं। वे भोगवादियों और फैशनबाजों से कहते हैं कि अन्तर्जातीय विवाह के बिना भी विभिन्न वर्गों में सद्भावना हो सकती है और रूढ़िवादियों से कहते हैं कि दूसरी जाति में विवाह करने से पाप नहीं होता है, धर्म भ्रष्ट नहीं होता है। अस्पृश्यता निवारण के उद्देश्य से उन्होंने सर्वत्र हिन्दूओं को हरिजन कन्याओं के साथ विवाह करने की सलाह दी।

बाल विवाह को गांधीजी ने एक अत्यन्त अनैतिक कार्य माना। बाल विवाह से सम्पत्ति के स्वास्थ्य का हास होने के अतिरिक्त बच्चे भी अधिक पैदा होते हैं। शारीरिक, सामाजिक, नैतिक मूल्यों का हास भी होता है। विधवा विवाह का पक्ष लिया। विधवाओं को बेहिचक

पुनर्विवाह की अनुमति मिलनी चाहिए।

गांधीजी ने जोरदार शब्दों में दहेज प्रथा का विरोध किया। इस प्रथा के कारण अनेक लड़कियों पर विपत्तियों के पहाड़ टूटते हैं। और बहुत-सी लड़कियों को आत्म-निर्याण का जीवन व्यतीत करना पड़ता है। वेश्यावृत्ति को घोर अपराध माना और पर्दाप्रथा का विरोध किया है। गांधीजी के प्रयत्नों के फलस्वरूप भारत में ऐसा सामाजिक संगठन में परिवर्तन आया कि बिना किसी कानूनी सुधार के भारतीय समाज में स्त्रियों की समानता तथा स्वतंत्रता का पुरुषों के समान अधिकार प्रदान किया। गांधीजी के विचार का आधार प्राचीन हिन्दू धर्म के आदर्श है। जाति व्यवस्था पर उनके विचार भी इसका अपवाद नहीं है। प्रायः देखा जाता है कि लोग 'वर्ण' और 'जाति' का एक दूसरे के पर्याय के रूप में प्रयोग करते हैं, किन्तु यह प्रयोग भ्रामक और अवैज्ञानिक है।

गांधीजी ने जाति व्यवस्था का प्रखर विरोध नहीं किया, किन्तु उसमें पनपी बुराईयों का कटु विरोध किया है। जाति प्रथा की बुराईयों की कटु आलोचना करते हुए उन्होंने कहा है कि वर्णाश्रम धर्म का परीक्षण किसी प्रकार के पूर्वाग्रह के बिना किया जाय, तो उसके साथ उन दोषपूर्ण विचारों और परम्पराओं को न जोड़ा जाये, जो हिन्दू धर्म में पैदा हो गई हैं। गांधीजी जाति को जन्मजात व्यवस्था को वर्ण व्यवस्था का विकृत रूप मानते हैं।

गांधीजी जाति व्यवस्था के प्रचलित स्वरूप से पूर्णतया असहमत हैं। उन्हें ऊँच-नीच का भेद, रोटी-बेटी के प्रतिबन्ध, आर्थिक, सामाजिक तथा धर्मिक विषमता, अस्पृश्यता, जातियों की बहुलता आदि किसी भी दशा में स्वीकार नहीं है। वे इन समस्त बातों को सामाजिक विघटन का लक्षण मानते हैं तथा इन्हें राष्ट्रीय एकता, आर्थिक उन्नति, सामाजिक प्रगति और आध्यात्मिक विकास के लिए बाधक समझते हैं। उनका दृढ़ विश्वास है कि हिन्दूओं का प्राचीन वर्ण-धर्म का सिद्धान्त सर्वथा वैज्ञानिक और कल्याणप्रद है। लेकिन जाति व्यवस्था ने उसको अत्यन्त विशुद्ध कर दिया है। यह उस मूल सिद्धान्त से बहुत दूर हट चुकी है। गांधी चिन्तन वर्णाश्रम धर्म से विशेष प्रभावित रहा। गांधी चिन्तन से प्रभावित आधुनिक समाज में अन्तर्जातीय और अन्तसम्प्रदाय विवाह से जाति प्रथा में शिथिलता आई, जिसके परिणामस्वरूप सामाजिक समानता एवं सद्भावना का विकास हुआ। गांधीजी के वर्णाश्रम धर्म व्यवस्था में व्यक्तिगत स्वतंत्रता और सामाजिक कर्तव्यपरायणता का समन्वय परिलक्षित होता है। गांधीजी ने कुछ संशोधनों के साथ इस व्यवस्था को एक आदर्श सामाजिक संगठन के रूप में देखा है, जिसमें उपवास द्वारा सामाजिक विचारों की शुद्धता पर बल दिया है। हिन्दू धर्म में धर्मिक समन्वय पर विशेष बल देते हुए, सामाजिक समानता तथा स्वतंत्रता की विचारधारा को आगे बढ़ाया। वर्णाश्रम व्यवस्था से व्यक्ति के व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास होता है। विश्व के अन्य समाजों में ऐसी सामाजिक व्यवस्था दृष्टिगत नहीं होती है, जिसके कारण उन समाजों में सामाजिक प्रतिस्पर्धा का विकास हुआ और समाज में व्यक्ति के व्यक्तित्व विकास हेतु अशान्ति का माहौल पैदा हुआ। जबकि भारत के सामाजिक संगठन का आधार वर्णाश्रम समाज में शान्ति स्थापित

करने का प्रेरक रहा है। गांधीजी का दृढ़ विश्वास है कि वर्णाश्रम धर्म हिन्दूओं की उच्च कोटी की खोज है, जिसे एक न एक दिन सारे विश्व को स्वीकार करना होगा।

संदर्भ ग्रन्थ सूची :

1. प्रताप सिंह : गांधीजी का दर्शन, रिसर्च पब्लिकेशन, नई दिल्ली, जयपुर, 1997।
2. डॉ. बी. एम. शर्मा : गांधी दर्शन के विविध आयाम, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 2007।
3. डॉ. पुरुषोत्तम नागर : आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिन्तन, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1999।
4. महोदय प्रसाद : महात्मा गांधी का समाज दर्शन, हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ़, 1989।
5. डॉ. ए. अवस्थी, डॉ. आर.के. अवस्थी, भारतीय राजनीतिक चिन्तन रिसर्च पब्लिकेशन, जयपुर, नई

दिल्ली, 1998।

6. नवजीवन, अप्रैल, 1925।
7. डॉ. धरेन्द्र मोहन दत्त, महात्मा गाँधी का दर्शन, विहार ग्रन्थ अकादमी, पटना 1981, पृ. 77।
8. गांधी, वर्णव्यवस्था, पृ. 22।
9. डॉ. एस.के. बसु, पृ. 31।
10. गोपीनाथ दीक्षित पृ. 146।
11. गांधी वर्णव्यवस्था, पृ. 99।
12. डे.ए.एच. बलाण्ट, सोशल सर्विस इन इण्डिया, पृ. 6।
13. एम. के. दत्त, ओरिजिन एण्ड ग्रोथ ऑफ़ कास्ट इन इण्डिया, पृ. 616।
14. ओ.पी. मफ़्फ़ी, इन दी माइण्ड्स ऑफ़ मेन, प्र. 42।
15. अमृत बाजार पत्रिका, 2 मई 1915।



मिड डे मील के उभरते हुये खतरों का विकल्प “कला शिक्षा”

डॉ. झाबर मल वर्मा
पूर्व पोस्ट डॉक्टरल फैलो
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

प्राथमिक स्कूलों में सन् 1995 से मिड डे मील की शुरुआत होना शायद यही संदेश देती है कि इस अच्छी योजना से बच्चों को पीथिक भोजन मिलेगा, बच्चे स्वस्थ रहेंगे एवं इस रूझान से बच्चे नियमित स्कूल आयेंगे। शुरुआती दिनों में यह योजना बहुत सफल हुई और इसी को देखते हुये इस अच्छी योजना को सर्वोच्च न्यायालय ने पूरे देश में लागू करने का आदेश भी दिया।

इस योजना से शाला में बच्चों का जुड़ाव भी हुआ, बच्चों का ठहराव भी बना, झप आउट बच्चों में कमी भी आयी। अनेक संस्थाओं ने इस सफल योजना की सराहना भी की। लेकिन धीरे-धीरे भ्रष्टाचार के गर्त में यह योजना घसती चली गई। बच्चों को पीथिक खाने के बजाय कुपोषित खाना मिलने लगा। इस ताजा उदाहरण को बिहार में बच्चों की अकाल मृत्यु के संदर्भ में देखा जा सकता है।

यह योजना वाकई बहुत अच्छी है लेकिन आवश्यकता है इसकी सही क्रियान्विति की। शायद सर्वोच्च न्यायालय को यह आशा नहीं थी कि इसमें इतना भ्रष्टाचार समाहित हो जायेगा कि लोग अपने छोटे से स्वार्थ के लिए बच्चों की जिन्दगी से ये राक्षस रूपी लोग खिलवाड़ करेंगे।

अगर आज के परिप्रेक्ष्य में मिड डे मील की योजना पर दृष्टिपात करें तो शायद पता चलता है कि यह योजना एक औपचारिकता के रूप में ही रह गई है। मास्टर साहब अनायास ही इसमें बहुत व्यस्त दिखाई देते हैं। कई बार मास्टर साहब के मुँह से सुनने को मिल ही जाता है कि साहब, मिड डे मील के कागजों की खाना पूर्ति में पूरा-पूरा दिन निकल जाता है। अगर इस तरह की बातों पर ध्यान केन्द्रित किया जाये तो लगता है कि मास्टर साहब भी इस योजना से परेशान हो चुके हैं। इस प्रकार पूरा दिन मिड डे मील की व्यस्तता में ही निकल जाता है और पढ़ाई के नाम पर बचता है केवल शून्य।

शुरुआती दिनों में बच्चे मिड डे मील को बड़े चाव से खाते थे और रोज स्कूल आते थे और कहना भी यही होगा कि शुरु में इसकी गुणवत्ता बहुत अच्छी थी। सभी लोग तारीफ करते थे, लेकिन आज के समय में इसकी तुलना की जाये तो शायद किसी को भी स्वीकार्य नहीं होगी, और तो और बच्चे भी मिड डे मील के जहर के डर से स्कूल आना छोड़ रहे हैं। मास्टर जी भी बच्चों के साथ जबरदस्ती करते हैं कि मिड डे मील तो खाना ही होगा नहीं तो डंडा पड़ेगा, बेचारा बच्चा क्या करे, मन मारकर, ना चाहते हुये भी मिड डे मील खा लेता है। अगर इस तरह का बर्ताव बच्चों के साथ नहीं होता तो शायद बिहार की घटना घटित नहीं होती।

गुरु को महिमा को भगवान से भी ऊँचा बताया गया है। जैसे – ‘गुरु गोविन्द दोक खड़े, काके लागु पाय। बलिहारी गुरु आपणे, गोविन्द दियो बताय।’ गुरु बच्चों के चरित्र निर्माण में अहम् भूमिका निभाता है। लेकिन आज के परिप्रेक्ष्य में गुरु, गुरु नहीं रहा। अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए मिड डे मील जैसी अच्छी योजनाओं का दुरुपयोग करने लगा है। बच्चों के भविष्य की उसको चिन्ता नहीं है। चिन्ता है तो केवल मिड डे मील में से कमीशन निकालने की। आज का कलयुगी गुरु अपनी जेब भरने के चक्कर में खराब से खराब राशन खरीद कर लाता है। उस खराब राशन का मिड डे मील बच्चों को परोसता है। उसको सब कुछ पता है लेकिन लालच के चक्कर में अंधा होकर कुपोषित भोजन बच्चों को खिलाकर उनके जीवन से खिलवाड़ कर रहा है। बच्चे भगवान का रूप होते हैं अतः ऐसे गुरु को भगवान से तो कम से कम शर्म करनी ही चाहिए।

मिड डे मील जैसी योजना को ऐसे क्षेत्र में लागू करनी चाहिए जहाँ बच्चे अभावों में जी रहे हैं। खाने को अनाज और पहनने को कपड़े नहीं है। शहरों और विकसित ग्रामीण क्षेत्रों में ऐसी योजना का कोई औचित्य नहीं है। अनुमानतः इस योजना पर कई करोड़ रुपये खर्च होते होंगे। अगर करोड़ों रुपये खर्च करके भी मिड डे मील से बच्चे कुपोषित हो रहे हों और दाल-सब्जी, चावल में कीड़े-मकौड़े, काकरोच, मरे हुये चूहे एवं छिपकली तथा मेढक के डर से बच्चे स्कूल छोड़ रहे हैं और साथ ही साथ मास्टर जी भी मिड डे मील के भार से परेशान हो रहे हैं तो तुरन्त प्रभाव से इस योजना को बंद कर देना चाहिए।

अगर एक योजना सफल नहीं होती तो दूसरी योजना तुरन्त प्रभाव से लागू कर देनी चाहिए— जो बच्चों को प्रिय हो, रूचिकर हो। जितने रुपये मिड डे मील पर सरकार खर्च कर रही है उतने रुपये शायद बच्चों की रूचि के विषय पर खर्च करें तो समझना चाहिए बच्चा दौड़ा-दौड़ा स्कूल आयेगा।

विकल्प बहुत हैं आवश्यकता है सोचने की। उदाहरण के तौर पर प्राथमिक एवं माध्यमिक स्कूलों में ‘कला शिक्षा’ जैसे अनिवार्य विषय को ही लिजिए। जैसा कि रविन्द्र नाथ टैगोर ने कहा है— ‘एक विद्यार्थी के प्रखर व्यक्तित्व के निर्माण एवं विकास में साहित्य, संगीत और कला सभी आवश्यक है।’²

एन.सी.ई.आर.टी. द्वारा विद्यालयी शिक्षा की पाठ्यचर्या में ‘कला शिक्षा’ को कक्षा १० तक अनिवार्य विषय के रूप में सम्मिलित करने के विशेष लक्ष्य रहे हैं जिनमें बच्चों के व्यक्तित्व के चहुंमुखी विकास में योगदान देना मुख्य है।

दुर्भाग्यवश, हमारी शिक्षा पद्धति भारत के महान् शिक्षाविदों एवं दार्शनिकों को महत्व नहीं देती, जैसा कि श्री अरविन्द ने कहा— प्लेटो ने अपनी पुस्तक ‘रिपब्लिक’ में उल्लेख किया है कि जो देखा जाता है उसका सर्वाधिक प्रभाव मस्तिष्क पर पड़ता है, यदि आँखें बाल्यावस्था से ही सौन्दर्य, सामंजस्य और रूप-रंग देखने की अभ्यस्त होंगी तो बड़े होने पर उनकी रूचि, आदतें और चरित्र स्वतः उसी प्रकार के सौन्दर्य, सामंजस्य और व्यवस्था का अनुसरण करेंगी।³ ‘कला’ गतिविधि पर आधारित आनुभाविक विषय है जिसमें सृजनात्मक प्रक्रिया के माध्यम से अवलोकन, कल्पना एवं दृष्टिकोण के विकास का अवसर प्राप्त होता है। प्रत्येक बच्चे में सभी प्रकार की भावनाएँ होती हैं जिन्हें बच्चों की आंतरिक दुनिया से बाहर निकलने की प्रक्रिया में ‘कला शिक्षा’ सहायक सिद्ध होती है। बच्चा बड़ा कल्पनाशील होता है। वह हर क्षण नयी-नयी कल्पनाओं में खोया रहता है। चित्रकला भावनाओं के विकास का सुन्दर और स्वस्थ माध्यम है। जब ये भावनाएँ निकल जाती हैं तब आनन्द का जो अनुभव होता है, वह बड़ा महत्वपूर्ण है। आत्मदर्शन बच्चे को आनन्द तो देता ही है, साथ ही साथ उसके सम्पूर्ण विकास का एक बहुत बड़ा जरिया भी बन जाता है। अधिकतर बच्चे कला-प्रवृत्तियों में इसलिए रस लेते हैं कि उन्हें उनके द्वारा आनन्द मिलता है।⁴

बच्चा हर समय कुछ न कुछ नई बात ग्रहण करता रहता है। उसके हर अनुभव उसके विकास की अवस्था को थोड़ा-थोड़ा बदलते रहते हैं। कम उम्र में बच्चे के शब्दों की भाषा भी अविकसित रहती है। इसलिए ‘कला’ ही उसके आत्म-प्रकटन का एक मुख्य साधन है। उसके बनाये हुये चित्रों के द्वारा उसके भीतरी विकास का दर्शन होता है और उसका स्वगुण हमें पता चल जाता है।

‘कला शिक्षा’ की गुणवत्ता के संदर्भ में राज्य सरकार को निजी स्कूलों से सीख लेनी चाहिए। वह इसलिए कि इन निजी स्कूलों में कला शिक्षा की गुणवत्ता पर पूरा जोर दिया जा रहा है। आर.टी.ई. एवं एन.सी.ई.आर.टी. के मानकों पर चलने वाले इन विद्यालयों में एक-एक कला शिक्षक नियुक्त है जो कला शिक्षा में विभिन्न गतिविधियाँ करवाता रहता है और इसका परिणाम भी बराबर देखने को मिल रहा है जैसे— विभिन्न चित्रकला प्रतियोगिताओं - जल बचाओ, पेड़ बचाओ, पर्यावरण बचाओ, ऊर्जा बचाओ एवं भ्रूण हत्या आदि में इन निजी विद्यालयों के बच्चे प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय स्थान पा जाते हैं और सरकारी विद्यालयों के बच्चे मुँह ताकते रह जाते हैं।

ऐसा क्यों हो रहा है एक विचारणीय बिन्दु है। सरकारी विद्यालयों में ‘कला शिक्षा’ की वर्तमान स्थिति यह है कि विगत कुछ दशकों में यह बंद से बंदतर होती चली गई है। वस्तु स्थिति यह है कि विद्यालयों, विद्यालय प्रबन्धकों एवं संस्थापकों तथा राज्य सरकार द्वारा ‘कला शिक्षा’ को गौण स्थान दिया जाकर महज औपचारिकता को पूरा किया जा रहा है जहाँ राज्य के सरकारी विद्यालयों में कला शिक्षक नियुक्त होकर कला की शिक्षा देनी चाहिए थी वहाँ सरकार द्वारा सामान्य शिक्षक से काम करवाकर लाखों बच्चों के भविष्य के साथ खिलवाड़ किया जा रहा है। जबकि वास्तविकता यह है कि बच्चे कला सम्बन्धी गतिविधियों में अत्यधिक रूचि लेते हैं अतः बच्चों की रूचि को देखते हुये सरकार को चाहिए कि निजी स्कूलों की तरह सरकारी स्कूलों में भी कला शिक्षक की नियुक्तियाँ करें ताकि सरकारी स्कूल के बच्चे भी विभिन्न कला प्रतियोगिताओं में निजी स्कूलों के बच्चों के साथ कदम से कदम मिलाकर चलने में सक्षम हो सकें।

मिड डे मील पर कई करोड़ों रुपये खर्च होते हैं अगर इन रूपयों का कुछ प्रतिशत ‘शिक्षा कला’ की समाप्ती पर खर्च कर दिया जाये जैसे कागज, रंग, ब्रश, टी.एल.एम., कला-कक्ष एवं कला शिक्षक की नियुक्ति, तो मैं समझूँगा कि शायद मिड डे मील से कई गुणा फायदा बच्चों की नियमितता, बच्चों की संख्या में वृद्धि एवं बच्चों का शाला में ठहराव तथा ड्राप आऊट बच्चों में कमी आदि के रूप में देखने को मिलेगा।

‘कला शिक्षा’ बच्चों का प्रिय विषय है। बच्चे मिड डे मील का स्वाद चखें या नहीं लेकिन बच्चों के सामने सफेद कागज और रंग-बिरंगे रंग हों तो अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति करने से नहीं चूकेंगे। रंग बच्चों की रंग-बिरंगी दुनियाँ है, बच्चे रंगों से खेलना चाहते हैं, शायद ही ऐसा कोई बच्चा होगा जो कागज और रंग को पसन्द नहीं करता हो, लेकिन उनकी भावनाओं को दबा दिया जाता है। बच्चे

शाला में आखिरी कालाश के वक्त फुट्टी होने का इंतजार करते रहते हैं कि कब फुट्टी हो और हम सब कब घर को जायें, अगर ऐसे आखिरी कालाश में कला शिक्षा का एक कालाश रख दिया जाये तो मैं समझता हूँ कि बच्चे फुट्टी होने के बाद भी जब तक अपना चित्र पूरा नहीं हो जाता, जायेंगे नहीं।

मिड डे मील के विकल्प के बारे में सोचा जाये तो कहना होगा कि एक आदर्श स्थिति में प्रत्येक विद्यालय में बच्चों का एक मंच भी होना चाहिए जहाँ उनकी सृजनात्मक एवं कलात्मक प्रतिभा को पूर्ण अभिव्यक्ति मिल सके। यह एक आधे दिन का पाक्षिक सम्भवतः शनिवार अथवा साप्ताहिक अवसर हो सकता है, जहाँ बच्चों को विषय की कल्पना करने, योजनाओं को बनाने और कार्यक्रम को संगठित करने की अनुमति हो और उसमें शिक्षकों को भाग लेने के लिए आमंत्रित किया जाए। यह पूरी तरह बच्चों का कार्यक्रम हो जहाँ वे सप्ताह भर में किये गये कला और शिल्प के कार्य को प्रदर्शित करें। स्वयं लिखित कविताओं का पाठ करें, गाएँ, नाचें, चुने हुये या स्वयं के लिखे नाटकों का मंचन करें एवं अपनी कलाकृतियों से शाला का सौन्दर्यकरण करें। महिने में एक बार

अभिभावकों को शाला में बुलाकर बच्चों द्वारा किये गये कार्यों की उपलब्धियों को दिखाया जाये ताकि बच्चों में आत्मविश्वास बने। इस प्रकार की योजना शायद मिड डे मील जैसी कुपोषित योजना से कई गुणा गुणवत्ता लायेगी। 'कला शिक्षा' जैसे विषय से जुड़कर बच्चों का शाला में ठहराव बनेगा एवं ड्राप आऊट जैसी गम्भीर समस्या से निजात मिलेगी।

संदर्भ ग्रन्थ सूची :

1. राजस्थान पत्रिका, जयपुर, १९-०७-२०१३, पृ. १२।
2. कला, संगीत, नृत्य और रंगमंच, राष्ट्रीय फोकस समूह का आधार पत्र, एन सी.ई.आर. टी, नई दिल्ली, २००९, पृ. ४।
3. देवी प्रसाद, शिक्षा का वाहन कला, दिल्ली, १९५८, पृ. १३।
4. वही, पृ. २१ व २४।
5. वही, पृ. १९।



पंचायतीराज : महिलाओं की सहभागिता चुनौतियां एवं निदान

डॉ. अकीला आजाद
व्याख्याता, राजनीति विज्ञान,
राजकीय महाविद्यालय, कोटा

पंचायतें भारत में प्राचीन काल से ही किसी न किसी रूप में कार्यरत रही हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति के करीब एक दशक तक देश में पंचायतों का स्वरूप बहुत अधिक व्यवस्थित नहीं था। भारतीय संविधान में नीति-निदेशक सिद्धांतों में अनुच्छेद 40 के अन्तर्गत यह व्यवस्था की गयी कि सरकार, ग्राम पंचायतों को गठित करने के लिए तथा उन्हें ऐसे अधिकार और शक्तियां देने के लिये, जिससे वे स्वायत्त शासन की इकाई के रूप में कार्य कर सकें, कदम उठायेगी। अतः राज्य सरकारों द्वारा पंचायतों के गठन, समुचित विकास एवं सुदृढिकरण हेतु प्रयास तो किये गये परन्तु ये संस्थाएँ मजबूत व सक्षम नहीं बन सकीं। भारत की लगभग तीन-चौथाई जनसंख्या गांवों में निवास करती है। गांवों के विकास एवं गांवों में रहने वाले लोगों के कल्याण सम्बन्धी कार्यक्रमों के सफल निर्धारण व संचालन के लिए उनकी भागीदारी आवश्यक है। गांधी जी ने कहा था, “आजादी नीचे से शुरू होनी चाहिए। हर एक गांव में जम्हूरी सल्तनत या पंचायत का राज होगा। उसके पास पूरी सत्ता और ताकत होगी।” राष्ट्रपिता के इस सपने को पूरा करने के उद्देश्य से सत्ता के विकेन्द्रीकरण के लिये भारत सरकार द्वारा पंचायतीराज प्रणाली को मजबूत करने के लिए वर्ष 1957 में श्री बलवंत राय मेहता की अध्यक्षता में एक अध्ययन दल का गठन किया गया। इस अध्ययन दल ने अपनी रिपोर्ट में निचले स्तर की पंचायतों को अधिक से अधिक काम देने की सिफारिश की तथा राज्यों द्वारा वैधानिक स्तर पर पंचायती राज संस्थाएँ गठित करने की सिफारिश की। इसी के फलस्वरूप 2 अक्टूबर 1959 को पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने नागौर (राजस्थान) में पंचायतीराज के नये युग की आधार शिला रखी।

73वां संविधान संशोधन : सत्ता का विकेन्द्रीकरण:-

पंचायती राज के आधुनिक इतिहास में 24 अप्रैल, 1993 का दिन अविस्मरणीय है, क्योंकि इसी दिन 73वां संविधान संशोधन अधिनियम लागू हुआ। 73वें संविधान संशोधन विधेयक को 1 दिसम्बर, 1992 को तत्कालीन ग्रामीण विकास मंत्री श्री वेंकटस्वामी ने संसद में प्रस्तुत करते हुए कहा कि संशोधन विधेयक राष्ट्रपिता के ग्राम स्वराज के सपने को प्राप्त करने के लिये पर्याप्त लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की ओर एक कदम है क्योंकि गांधी जी ने कहा था कि आजादी नीचे से शुरू होनी चाहिए। हर गांव में पंचायत का राज होगा। इसके अतिरिक्त उन्होंने यह भी कहा कि यह संविधान के अनुच्छेद 40 को लागू करने का प्रयास है जो केन्द्र तथा राज्यों पर पंचायतों को जीवंत और स्वायत्त शासन की संस्थाएँ बनाने की भारी जिम्मेदारी डालता है।

73वें संविधान संशोधन में स्वीकृत पंचायती राज व्यवस्था के मुख्य बिन्दु इस प्रकार हैं:

- हर पाँच साल में जिला स्तर (जिला परिषद्), ब्लॉक या ताल्लुक स्तर (पंचायत समिति) तथा ग्राम पंचायत का चुनाव होगा।
- इन तीनों स्तरों के चुनाव में एक-तिहाई सीटें महिलाओं के लिये आरक्षित की गयी है, साथ ही तीनों स्तरों के प्रधानों को जिला-परिषद् के समापति, ब्लॉक-अध्यक्ष तथा ग्राम पंचायत के प्रधान के भी एक-तिहाई पद महिलाओं के लिए आरक्षित किये गये।

•पंचायत, विशेषकर ग्राम पंचायत, को 29 विभिन्न विषयों पर योजना तैयार करने और उसे लागू करने का अधिकार दिया गया।

•पंचायत को ग्राम सभा की स्वीकृति लेकर वर्ष में कम से कम दो बार ग्राम सभा में पंचायतों के कार्यों का विवरण पेश करना पड़ेगा और भावी कार्यक्रमों की चर्चा करके योजना को वास्तविक रूप प्रदान करने के लिये अनुमति लेनी पड़ेगी।

इस अधिनियम के द्वारा 20 लाख से अधिक जनसंख्या वाले प्रत्येक राज्य में पंचायती राज की त्रि-स्तरीय प्रणाली यानि ग्राम स्तर पर ग्राम पंचायत, खण्ड स्तर पर पंचायत समिति और जिला स्तर पर जिला परिषद् की व्यवस्था की गयी। इसके अलावा हर पांच साल बाद नियमित रूप से पंचायतों के चुनाव कराने, अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों तथा महिलाओं (एक-तिहाई से कम नहीं) के लिए सीटों के आरक्षण, प्रत्येक राज्य में वित्त आयोग की स्थापना और जिला समिति के गठन आदि की भी व्यवस्था की गयी। सबसे प्रमुख बिन्दु था - ग्राम सभा को संवैधानिक दर्जा प्रदान करना। इस प्रकार 73वें संविधान संशोधन अधिनियम से जहाँ पंचायती राज संस्थाओं को कानूनी दर्जा और अधिकार मिले, वहीं पंचायती राज की धुरी के रूप में ग्राम सभा की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण हो गयी, इससे ग्राम पंचायत को सामाजिक न्याय को ध्यान में रखते हुए गांव के आर्थिक विकास की योजना तैयार करने और स्थानीय कर, शुल्क, चुंगी आदि लगाने और वसूलने के अधिकार मिले, जबकि ग्राम सभा को ग्राम पंचायत के कार्य-कलापों की निगरानी करने और उन्हें मंजूरी देने का अधिकार प्राप्त हुआ। जहाँ ग्राम पंचायत में एक-तिहाई स्थान महिलाओं के लिये आरक्षित हुए, वहीं गांव की प्रतिनिधि सभा होने के नाते ग्राम सभा की बैठकों में दलितों, निर्धनों और महिलाओं के भाग लेने पर विशेष जोर दिया गया। सच्चे अर्थों में भारत का विकास करना है तो गांवों का विकास करना निहायत जरूरी है। अर्थव्यवस्था के द्रुत गति से विकास के लिए लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण के साथ-साथ आर्थिक विकेन्द्रीकरण भी आवश्यक है, क्योंकि राजनीतिक स्वतंत्रता तभी सार्थक होती है जब आर्थिक स्वतंत्रता हो और आर्थिक स्वतंत्रता तभी सार्थक होती है। जब राजनीतिक स्वतंत्रता दी जाये, इस कड़ी में 73वां संविधान संशोधन अधिनियम मील का पत्थर साबित हुआ, जिससे 21 वीं सदी में भारत की तस्वीर एक अलग रूप में प्रस्तुत होगी। दूसरी ओर राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के इस कथन की सच्चाई भी सामने आयेगी कि- "अगर हिन्दुस्तान के हर एक गांव में कमी पंचायती राज कायम हुआ, तो मैं अपनी उस तस्वीर की सच्चाई साबित कर सकूंगा, जिसमें सबसे पहला और सबसे आखिरी दोनों बराबर होंगे या यूँ कहिये कि ना कोई पहला होगा, न ही कोई आखिरी।

पंचायती राज और महिला उत्थान

•देश का समग्र विकास महिलाओं की भागीदारी के बिना संभव नहीं है, क्योंकि देश की आधी आबादी की भागीदारी का आशय नीति-निर्धारण में भागीदारी से है। यह भागीदारी, मतदाता स्तर

से लेकर संसद तक हो सकती है, किन्तु अभी तक सभी स्तरों पर महिलाओं का प्रतिनिधित्व कम रहा है। इस राजनीतिक पिछड़ेपन को दूर करने और महिलाओं की भागीदारी बढ़ाने के लिए 73वें संविधान संशोधन अधिनियम 1992 के अन्तर्गत पहली बार पंचायती राज के सभी स्तरों पर महिलाओं को एक-तिहाई आरक्षण प्रदान किया। आरक्षण के इस प्रावधान से स्थितियों में बदलाव आया है। विशेषतः ग्रामीण महिलाओं का जीवन घूघट में रहकर अपनी गृहस्थी तक सीमित था। नवीन व्यवस्था ने परम्परागत सामाजिक बंधनों को तोड़ा है। नवीन पंचायती राज व्यवस्था में जो नवीन महिला नेतृत्व उभरा है, उसकी समीक्षा की जाये तो यह स्पष्ट होता है कि धीरे-धीरे महिला जनप्रतिनिधि पंचायत के कार्यों का जिम्मेदारी के साथ निर्वहन कर रही है। पंचायती राज संस्थाओं में महिलाओं की सहभागिता न सिर्फ उनकी राजनीतिक सहभागिता को लोकतांत्रिक प्रक्रिया में सुनिश्चित करने की है बल्कि उनके विकास सम्बन्धी उद्देश्यों को कार्यान्वित करने की भी है। महिलाएं पंचायती राज संस्थाओं में इन रूपों में सहभागी हो सकती हैं

- महिला मतदाता के रूप में - राजनीतिक दलों के सदस्य के रूप में।
- प्रत्याशियों के रूप में, - पंचायती राज संस्थाओं के निर्वाचित सदस्य के रूप में।
- और - महिला मंडलों के सदस्यों तथा स्वयं सेवी संस्थाओं के साथ साझीदारी के रूप में।

भारतीय समाज में महिलाओं का स्थान सर्वोपरि है। वे राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया में अहम भूमिका निभा सकती हैं। जब तक महिलायें जागरूक नहीं होंगी तथा राष्ट्रीय विकास की धारा में अपनी सक्रिय भूमिका तथा भागीदारी नहीं निभायेंगी, तब तक राष्ट्र का सर्वांगीण विकास संभव नहीं है। इसी संदर्भ में पण्डित जवाहर लाल नेहरू ने कहा था- "यदि जनता में जागृति पैदा करनी है तो पहले महिलाओं में जागृति पैदा करो"। एक बार जब वे आगे बढ़ती हैं तो एक परिवार आगे बढ़ता है, गांव तथा शहर आगे बढ़ता है, स्वयं सारा देश आगे बढ़ता है। अतः महिलाओं को जागरूक बनाने तथा उनकी सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति में सुधार लाने के लिये संविधान का 73वां संशोधन एक ठोस कदम है। 73वें संशोधन के अनुसार कम-से-कम एक-तिहाई महिलायें सभी स्थानीय स्वशासकीय निकायों तथा पंचायतों के स्तर पर निर्वाचित होंगी, जिनमें पंच, सरपंच, प्रधान, पंचायत समिति प्रमुख और जिला परिषद् सभी स्तर सम्मिलित है। इस आरक्षण में अनुसूचित जाति, जनजाति तथा पिछड़े वर्ग की महिलाओं को भी आरक्षण दिया गया है। स्थानीय स्तर की सभी प्रमुख नीतियों जैसे - निःशुल्क भूमि-आवंटन, आवास-निर्माण सहायता, उन्नत चूल्हा कार्यक्रम, जवाहर रोजगार योजना, समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम, स्वरोजगार कार्यक्रम के कार्यान्वयन आदि में महिलायें राजनीतिक स्तर पर योगदान देंगी। जवाहर रोजगार योजना और समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम के लाभार्थियों में महिलाओं के लिये क्रमशः 30 और 40 प्रतिशत का आरक्षण किया गया है।

महिला सहभागिता : उपस्थित चुनौतियाँ

74.29 प्रतिशत पंचायत प्रतिनिधि यह मानते हैं कि पंचायती राज में महिला प्रतिनिधियों की पूर्ण भागीदारी न होने का प्रमुख कारण पारिवारिक समस्याएँ हैं जबकि 37.14 प्रतिशत पंचायत के प्रतिनिधियों के अनुसार वित्तीय समस्याएँ इसका प्रमुख कारण हैं। 20 प्रतिशत के अनुसार सामाजिक समस्याएँ भी एक कारण हैं। 11.48 प्रतिशत प्रतिनिधि शिक्षा की कमी को

इसका कारण मानते हैं। इसके अलावा 3.85 प्रतिशत महिला प्रतिनिधि जाति-व्यवस्था को प्रमुख मानती हैं।

महिला प्रतिनिधियों की पंचायती राज में सकारात्मक भागीदारी न होने के प्रमुख कारणों को सारणी में निम्नानुसार दर्शाया गया है-

क्र.सं.	कारण	महिला प्रतिनिधि संख्या/प्रतिशत	पुरुष प्रतिनिधि संख्या/प्रतिशत	कुल संख्या/ प्रतिशत
1.	सामाजिक समस्याएँ	4/15.38	10/22.72	14/20.00
2.	परिवारिक समस्याएँ	19/73.09	33/75.00	52/74.29
3.	जाति व्यवस्था	1/3.85	-	1/3.85
4.	वित्तीय समस्याएँ	9/34.62	17/38.64	26/37.14
5.	शिक्षा की कमी	1/3.85	7/15.91	8/11.43
	कुल संख्या	26	44	70

- कुछ लोगों की धारणा है कि पंचायतों में महिलाओं के लिए स्थान आरक्षित करना बेमानी है क्योंकि वे चुनकर आने के बावजूद आने विचार रखने में असमर्थ हैं। वे वही करती हैं जो परिवार के पुरुष सदस्य चाहते हैं। बहुत कम महिलायें हैं जो मुखर होकर अपना पक्ष मजबूती से रखती हैं।
- अधिकांश महिलायें अकुशल हैं, उन्हें पंचायतों के विषय में कोई जानकारी नहीं होती है, महिलाओं के साथ उनके पति आते हैं। महिला सरपंच अपना हाथ ऊपर उठाकर मात्र मौन स्वीकृति प्रदान करती हैं।
- शिक्षा की कमी के कारण महिलायें अपने अधिकारों व कर्तव्यों को सही ढंग से समझ नहीं पाती हैं। वे अन्य पुरुष सदस्यों के कहे अनुसार कार्य करती हैं।
- जो महिलायें चुनकर आती हैं उन्हें पंचायतों के कार्य संचालन का अनुभव न होने के कारण अपने-आपको असह्य महसूस करती हैं।
- जो महिलायें चुनकर आती हैं उनमें शिक्षा का सामान्य स्तर काफी निम्न है तथा उनमें अधिकतर निरक्षर होती हैं, वे ग्राम विकास के कार्यों से भली प्रकार से परिचित नहीं हो सकती। ऐसी स्थिति में ये महिलाएँ विकास के कार्यों की योजना तैयार करने तथा उन्हें क्रियान्वित करने में स्वाभाविक रूप से समर्थ नहीं हो सकती। इसलिए बहुतायत में वे अपने परिवार के पुरुषों पर निर्भर देखी गयी हैं।
- पंचायती राज में महिला प्रतिनिधियों की सकारात्मक भागीदारी न होने का प्रमुख कारण पारिवारिक समस्यायें भी हैं।
- ग्रामीण अभिजन एवं प्रशासकों के अपेक्षित सहयोग का

- अभाव भी इस वर्ग के कार्यों पर प्रतिकूल प्रभाव डालता है।
- महिलायें, विशेषकर ग्रामीण क्षेत्रों में, अपने आप आगे आकर चुनाव नहीं लड़ना चाहती हैं। यहाँ तक कि दलों के नेता, सरकारी अधिकारी, गाँवों के प्रधान भी इस बात से डरते हैं कि महिलायें राजनीति में भाग लेने के लिए तब तक अनिच्छुक ही रहेगी, जब तक कि उनके परिवार के बड़े उन्हें अनुमति प्रदान न करें।
- कहीं-कहीं स्थानीय दलालों ने महिलाओं के आरक्षण को पंगु बना दिया है।
- अनेक स्थानों पर महिला प्रतिनिधियों को जागरूकता दिखाने या शक्तियों और अधिकारों के प्रति उत्सुकता दिखाने के कारण अपशब्दों का भी सामना करना पड़ता है।
- अधिकतर महिलायें अशिक्षित, नव शिक्षित या अल्प शिक्षित हैं। उनकी न पढ़ने-लिखने की अवस्था है न समय। ऐसे में प्रशासन की बारीकियाँ समझना उनके लिये दुश्कर कार्य है।
- पंचायती राज के बारे में जानकारी या अनुभव की कमी के कारण वे अर्थपूर्ण भागीदारी निभाने में असमर्थ हैं।
- निरक्षरता, गरीबी, परम्परा के बंधनों को तोड़ना ग्रामीण महिलाओं के लिए मुश्किल कार्य है।
- महिला प्रत्याशियों के सम्मुख एक प्रमुख समस्या यह आती है कि पंचायत चुनावों दलविहिन लोकतांत्रिक व्यवस्था के कारण चिर-परिचित दलीय चुनाव चिन्हों का आवंटन नहीं होता है। प्रत्याशियों को मतदान के 15 घण्टे पूर्व चुनाव चिन्ह आवंटित किये जाते हैं, जिसकी सूचना अपने

मतदाताओं को करवाना महिलाओं के लिए कठिन होता है, क्योंकि इस समय सीमा के भी अधिकांश घन्टे रात्रिकालिन होते हैं। ग्रामीण मतदाता चुनाव चिन्हों को पहचानकर ही अपने मत का प्रयोग करते हैं। रात्रि में अपने चुनाव चिन्ह का प्रसारण न कर पाने के कारण महिला प्रत्याशियों को मतदान के दिन अपने चुनाव चिन्ह के बारे में समस्त मतदाताओं को सूचित करना संभव नहीं होता है। अतः चुनाव चिन्हों का आर्टवटन मतदान से कम से कम 24 घण्टे पूर्व होना चाहिए ताकि अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की भी रक्षा हो सके और महिलाओं की राजनीतिक सहभागिता को भी सही तरीके से प्राप्त किया जा सके।

- कई महिला प्रतिनिधि वित्तीय समस्या की वजह से अपने-अपने परिवार का पालन-पोषण करने के लिए कृषि कार्य अथवा मजदूरी करने जाती हैं, इसलिए वे पंचायत को पूरा समय नहीं दे पाती हैं। सरकार उन्हें पर्याप्त आर्थिक सहायता या वेतन दे तो वे बैठकों में जा पायेंगी और अच्छी भूमिका निभा पायेंगी।

महिला सहभागिता में कमी निदान:-

करीब 10 लाख से अधिक महिलाओं को सार्वजनिक क्षेत्र में प्रविष्ट होने, शासन व सत्ता में भागीदारी का अधिकार हुआ है। देश में कुल पंचायतों की संख्या 2.25 लाख है, यदि प्रत्येक पंचायत में औसतन दस सदस्य भी हैं तो सम्पूर्ण निर्वाचित सदस्यों की संख्या 22.50 लाख होती है। इसका 33 प्रतिशत महिलाएं हैं। अतः महिलाओं की संख्या पंचायतों में लगभग 7.35 लाख है। इस तरह ब्लॉक स्तर पर यदि 500 ईकाइयां हैं और प्रत्येक में औसतन 25 सदस्य हैं तो कुल सदस्य संख्या 13950 होगी। एक तिहाई स्थान 4650 के लगभग होंगे। भारत में गांवों की संख्या 5 लाख 80 हजार है। इन गांवों में बसने वाले लोगों की संख्या शहरी लोगों की तुलना में लगभग तीन गुनी अर्थात् 23 करोड़ के विपरित 67 करोड़ है। महिला जनसंख्या 49 प्रतिशत है।

- महिलाओं में राजनीतिक जागरूकता पैदा करने में महिला संगठनों सरकारी अभिकरणों, स्वयंसेवी संस्थाओं व राजनीतिक दलों को आगे आना चाहिए। रेडियो व दूरदर्शन के माध्यम से भी दूर-दराज के इलाकों में जागरूकता पैदा करने का कार्य किया जा सकता है।
- महिलाओं को पंचायतीराज के बारे में शिक्षित करना भी आवश्यक है। उन्हें विभिन्न विकास कार्यक्रमों की नीतियों, महिलाओं एवं बच्चों से सम्बन्धित विषयों के बारे में अवगत कराया जाये।
- पंचायतों में महिलाओं की प्रभावकारी सहभागिता को सुनिश्चित करने के लिये कानून द्वारा महिला पंचायतों का गठन किया जाये ताकि वे ग्रामीण समाज के परम्परागत तौर-तरीके बदल सकें।
- महिलाओं को पंचायतीराज की समस्त गतिविधियों के

सफल संचालन हेतु उचित प्रशिक्षण दिये जाने की भी व्यवस्था होनी चाहिए। महिलाओं को प्रशासनिक और वित्तीय मामलों की जानकारी तथा गरीबी उन्मूलन के कार्यक्रमों की जानकारी दी जानी चाहिए।

- सामाजिक बुराईयों को मिटाने हेतु आर्थिक दण्ड का प्रावधान नहीं है। मृत्युभोज, मारपीट, दहेज, शराब के सेवन पर रोक लगाने के लिये आर्थिक जुर्माना लगाने का अधिकार भी पंचायत को दिया जाना चाहिए।

चूँकि महिलायें हमारे समाज का आधा हिस्सा हैं। यदि आधी आबादी समाज या राज्य के निम्न पायदान पर रहे तो कोई भी समाज प्रगति नहीं कर सकता, इसलिए सविधान में पुरुषों के साथ महिलाओं को भी आगे बढ़ने के समान अवसर प्रदान किये गये हैं। 73वें सविधान संशोधन में महिलाओं के लिये एक-तिहाई स्थान आरक्षित किये गये हैं। यह एक क्रांतिकारी कदम है क्योंकि गांव की महिलायें संसद के लिए चुनी गयी महिलाओं की अपेक्षा कम पढ़ी-लिखी या निरक्षर होती हैं तथा बाहर की दुनिया से अनजान रहती थीं, जिनका कार्य-क्षेत्र घर और खेत-खलिहान हुआ करता था, उनकी राजनीतिक सहभागिता बढ़ाना और मतदान करने तक ही सीमित न रखकर निर्वाचन में भी उम्मीदवार के रूप में खड़े होने का अधिकार देना तथा निर्णय-निर्माण प्रक्रिया में भूमिका निभाने में भागीदार बनाने से विकास की प्रक्रिया को गति मिली है। महिला जनप्रतिनिधियों ने भी अपनी सकारात्मक उपस्थिति दर्ज करवाकर उपलब्धियां हासिल की हैं।

पंचायतीराज : महिलाओं के बढ़ते कदम:-

- महिला जनप्रतिनिधि स्वयं अपने क्षेत्र/गांव में जाकर अन्य महिलाओं को शिक्षित करने, मतदान करने, चुनाव में खड़े होने के लिये प्रेरित कर रही हैं।
- महिलाओं की राजनीतिक सहभागिता में वृद्धि होने से समाज में बाल विवाह, दहेज प्रथा एवं अन्य रूढ़िवादी व्यवस्थाओं व सोच में परिवर्तन लाने के लिये प्रयासरत रही हैं।
- महिला जन प्रतिनिधि स्वयं निरक्षर होने के बावजूद अपने परिवार व गांव में शिक्षा के प्रसार करने के कार्य में लगी हुई हैं।
- महिलाओं ने निर्णय-निर्माण प्रक्रिया में भी भागीदारी दर्ज की है, सामाजिक स्तर में बदलाव की कोशिश की है तथा उनमें स्वयं भी आत्मविश्वास में बढ़ोतरी हुई है।
- महिलाओं की सहभागिता में बढ़ोतरी के फलस्वरूप निर्वाचन के समय होने वाली हिंसा में भी अपेक्षाकृत कमी आयी है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची :-

1. डॉ. महीपाल, पंचायतीराज : अतीत वर्तमान और भविष्य सारांश प्रकाशन, नई दिल्ली, 1997।
2. कुरुक्षेत्र - ग्रामीण क्षेत्र एवं रोजगार मंत्रालय, नई दिल्ली, मई 1997।
3. Indira Kumari, B. Sambasiva Rao

Empowerment of women and Rural Development, 2005 B.R. World of Books.

4. Biju, M.R. Dynamics of New Panchayati Raj System: Reflections and Retrospections. Kanishka, New Delhi, 1998
5. Biju, M.R. Indian Democracy and

Empowerment of women. South Asia Politics Issue 12, Apr. 2013

6. Vina Mazumdar, Reservation for women, EPW 16 Dec 1989.



राष्ट्रीय एकीकरण की चुनौतियाँ : आर्थिक विकास के संदर्भ में एक अध्ययन

डॉ. प्रेमलता परसोया
व्याख्याता राजनीति विज्ञान
राजकीय महाविद्यालय, कोटा

राष्ट्रीय एकीकरण से पूर्व राष्ट्र के अर्थ को समझना मेरी दृष्टि में समीचीन होगा। राष्ट्र केवल व्यक्तियों और भूमि (क्षेत्रफल) मात्र से नहीं बनता अपितु व्यक्तियों/नागरिकों के अन्तर्मन में उस भूमि तथा अन्य व्यक्तियों के प्रति उत्पन्न प्रेम भावना से बनता है। व्यक्ति में वह भाव होता है जिससे वह अपना सर्वस्व राष्ट्र के लिए समर्पित कर देता है। इस राष्ट्र की सुरक्षा के लिए व्यक्ति हँसते-हँसते प्राण तक न्यौछावर कर देता है। यह भावना ही राष्ट्रीयता कहलाती है और राष्ट्रीयता ही किसी राष्ट्र के निर्माण का महत्वपूर्ण आधार है। यही भावना किसी पराधीन राष्ट्र के नागरिकों को स्वतन्त्रता आन्दोलन के लिए प्रेरित करती है। राष्ट्र के नागरिकों में खान-पान, रहन-सहन, आचार-विचार की काफी कुछ समानता पाई जाती है परन्तु सर्वाधिक समानता उस राष्ट्र के प्रति गर्व तथा सुरक्षा की भावना की पाई जाती है।

किसी भी राष्ट्र के लिए राष्ट्र की अखण्डता तथा सुरक्षा अति महत्वपूर्ण तत्व होते हैं। भारत उत्तर में कश्मीर से लेकर दक्षिण में कन्याकुमारी तक फैला विशाल क्षेत्र है और कल-कल करती यहाँ की नदियाँ, झर-झर, झरते-झरने, खिलते-महकते वन-उपवन यहाँ के नागरिकों के तन-मन को महकाये हुये हैं। विशाल क्षेत्रफल से विशाल यहाँ के निवासियों के हृदय तथा रंग-बिरंगी संस्कृति सारे राष्ट्र को नव चेतना प्रदान कर विविधता के मध्य एकता के भावों का संयोजन करती है। मिल-बाँटकर खाना, एक-दूसरे का दर्द समझना अर्थात् 'वसुधैव कुटुम्बकम्' एवं 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' का उद्घोष इस भारत भूमि की पहचान रहे है।

कश्मीर से कन्याकुमारी तक कहीं के भी निवासी सर्वप्रथम स्वयं को भारतवासी/भारतीय कहलाने पर ही गर्व करते हैं। तत्पश्चात् पंजाबी, बंगाली, गुजराती, राजस्थानी आदि। यही इस भारत राष्ट्र की पहचान रही है। कितनी ही विदेशी जातियाँ जैसे शक, हूण, पठान, मुगल यहाँ आईं और यहीं की संस्कृति में समाहित हो गईं। ये विशाल हृदयता इस राष्ट्र और राष्ट्र के प्रत्येक नागरिक की पहचान सदैव से रही है।

सर हर्बर्ट रिजले ने कहा कि - "भारत में भाषा, धर्म, रीति-रिवाज, आचार-विचार और जो सामाजिक विभिन्नताएँ हमें दिखाई देती हैं, उस सबके पीछे एक निश्चित मौलिक एकता है, जिसने हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक के भारतीय जीवन को एक सूत्र में बाँधकर रखा है।"¹

राष्ट्रीय एकता एक ऐसी मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है जो सहनागरिकता के साथ-साथ देश भक्ति की भावना में वृद्धि करती है। कोई भी नागरिक चाहे वह किसी रंग, रूप, जाति या धर्म का हो चाहे वह कोई भी भाषा बोलता हो, उन बातों से हटकर उसे एक भारतीय नागरिक के रूप में गर्व करना चाहिये। राष्ट्र किसी एक आध-जाति, सभ्यता, वर्ग या धर्म से नहीं बन जाया करता उसमें अनेक धर्मों, जातियों, सभ्यता, संस्कृतियों आदि सभी तत्वों का समन्वय रहन करता है। व्यक्ति, समाज देश एवं राष्ट्र के स्तर पर सबके स्वतंत्र बने रहने के लिए सबकी एकता को पहली शर्त माना गया है।²

खेत पर काम कर रहा किसान, पाठशाला में पढ़ा रहा शिक्षक, घर के सदस्यों को एकसूत्र में पिरोये रखने वाली महिला, सत्ता के गलियारों को सुशोभित करते राजनीतिज्ञ, धूप, छांव, सर्दी-गर्मी से बेपरवाह सीमा पर खड़ा जांबाज सैनिक सभी के मन में भारत राष्ट्र की एकता, अखण्डता तथा सुरक्षा सर्वोपरि लक्ष्य के रूप बनी रहती है। यही भावना, राष्ट्रीय एकीकरण तथा एकता का सुदृढ़ आधार सदैव से रही है। आजादी प्राप्ति के दो-तीन दशकों के बाद राष्ट्रीय एकीकरण को नुकसान पहुँचाने वाली प्रवृत्तियों तथा चुनौतियों ने धीरे-धीरे सेंध मारना शुरू किया तथा आज राष्ट्रीय एकता तथा अखण्डता को क्षति पहुँचाने में जाति, धर्म, वर्ण, सम्प्रदाय तथा वर्ग भेद की विष बेल निरन्तर फैलती जा रही है। आज कदम-कदम पर हम बँटते जा रहे हैं, विभाजित होते जा रहे हैं। कहीं हम जाति के नाम पर बटे हैं तो कहीं धर्म के नाम पर, कहीं भाषा के नाम पर तो कहीं रंग और वर्ण के नाम पर, कहीं शहरी और ग्रामीण के नाम पर तो कहीं अमीर के गरीब के नाम पर तो कहीं महिला और पुरुष के नाम पर। विभिन्न विविधताओं को जोड़ने वाली सशक्त एकता की डोर अब ढीली पड़ती जा रही है एवं विविधताएँ सर उठाने लगी हैं जो कि राष्ट्रीय एकीकरण के लिए खतरनाक साबित हो रही हैं।

आज जातिवाद, सम्प्रदायवाद, भ्रष्टाचार, अलगाववाद, उग्रवाद, क्षेत्रीयता, नक्सलवाद और आतंकवाद जैसी कुप्रवृत्तियाँ राष्ट्रीय एकता को छिन्न-भिन्न करती जा रही हैं। सरपंच से लेकर केन्द्रीय मंत्रियों तक पद आवंटन से लेकर नीति क्रियान्वयन तक जातिगत समीकरण काम करते हैं, धार्मिक आधार पर राजनीतिक रेवडियाँ बाँटने की कोशिश की जाती हैं। भ्रष्टाचार आज सर्वाधिक चर्चित विषय बना हुआ है। चपरासी से लेकर बड़े-बड़े अधिकारी तक विभिन्न प्रकार के भ्रष्टाचारी आचरण में लिप्त पाये जाते रहते हैं, अलगाववाद, क्षेत्रवाद अपनी जड़े जमाता जा रहा है जो विभिन्न रूपों में बोडो लैंड, गोरखालैंड, तैलंगाना, आदि रूप में सामने आता जा रहा है।

आज व्यक्ति घर, बाहर, कार्यालय कहीं भी सुरक्षित नहीं हैं और विशेषकर बालिकाएँ आज सर्वाधिक असुरक्षित हैं वे अपने संगे-संबंधियों, विद्या के मंदिरों, रास्ते, गलियारों खेत-खलिहानों, कार्यस्थलों कहीं भी पूर्णतः सुरक्षित नहीं हैं। इसकी प्रमाणिकता दैनिक राष्ट्रीय समाचार पत्रों द्वारा होती रहती है।

जाति आधारित भेदभाव, आजादी प्राप्ति के छः-सात दशकों के बाद भी अपनी जड़े जमाये हुये हैं तथा अनेक अवसरों पर अपना रौद्र रूप प्रदर्शित करता रहता है और ये भेदभाव सबसे बड़ी बाधा आज राष्ट्रीय एकता में बना हुआ है। निर्धनता, बेरोजगारी, जनसंख्या विस्फोट पर भी वास्तविक रूप से सफलता नहीं मिल पाई है।

यह सत्य है कि आर्थिक विषमता तथा विपन्नता राष्ट्रीय एकीकरण में सबसे बड़ी चुनौतियाँ साबित होती हैं। आर्थिक विकास पर दृष्टि डाली जाये तो आजादी के बाद देश ने बहुत विकास किया है। उपनिवेशकाल में ब्रिटिशों ने भारत का सर्वाधिक आर्थिक रूप से ही शोषण किया था परन्तु 1947 के बाद तत्कालीन आवश्यकतानुसार हमने योजनाबद्ध विकास के स्वरूप को

अपनाया। हर एक का विकास पहली शर्त माना गया।

हालांकि 1950 से 1970 के दशक के दौरान भारतीय अर्थव्यवस्था ने निम्न स्तर का संतुलन जाल प्रदर्शित किया, जिसमें कि लगातार धीमी वृद्धि दर, खाद्य मूल्यों में वृद्धि और आय व असमानता में वृद्धि शामिल थी। इस अवधि में लम्बे समय के लिए वृद्धि दर 3.5 फीसदी प्रतिवर्ष के निम्न स्तर पर थी जिसे कि व्यंग्यात्मक लहजे में 'हिन्दू' विकास दर के रूप में व्याख्यायित किया गया।³

परन्तु पंचवर्षीय योजनाओं के द्वारा कृषि विकास, खाद्यान्न में आत्मनिर्भरता, उद्योगों का विकास, गरीबी उन्मूलन, बेरोजगारी निवारण के लक्ष्य निर्धारित कर आर्थिक विकास के क्षेत्र में राष्ट्र रफ्तार पकड़ता गया।

यह माना जाता है कि जीडीपी के सेक्टरल गठन में अर्थव्यवस्था के विकास के साथ परिवर्तन होता है इसे सिमोन कुजेनेट्स द्वारा सुझाया गया था जिन्होंने यह तर्क दिया था कि अर्थव्यवस्था में जब प्रगति होती है तो प्राथमिक क्षेत्र की जीडीपी में हिस्सेदारी क्रमशः कम होती जाती है, द्वितीयक या विनिर्माण क्षेत्र की हिस्सेदारी बढ़ती जाती है। आर्थिक विकास का भारतीय अनुभव इसकी पृष्टि करता है। 1980 के दशक की शुरुआत में उसके बाद 1991 के बाद खासतौर पर जीडीपी में सेवा क्षेत्र की हिस्सेदारी तेजी से बढ़ी है और यह जीडीपी का 56 फीसदी है जबकि प्राथमिक क्षेत्र की हिस्सेदारी घटकर 21 फीसदी हो गई है जबकि द्वितीयक क्षेत्र 23 फीसदी पर आकर स्थिर हो गया है।⁴

जीडीपी में सेक्टरल वृद्धि	1973	2003
प्राथमिक क्षेत्र की जीडीपी में भूमिका	45%	25%
द्वितीयक क्षेत्र की जीडीपी में भूमिका	20%	20%
तृतीयक क्षेत्र की जीडीपी में भूमिका	35%	55%

उपर्युक्त सारिणी जीडीपी में प्राथमिक क्षेत्र की घटती भूमिका तथा तृतीयक क्षेत्र का बढ़ता दायरा विकास की ओर संकेत करती है। इसी प्रकार विभिन्न वर्षों की आर्थिक वृद्धि दर का अध्ययन किया जाय तो परिणाम आशाजनक ही नजर आते हैं। वर्ष 2003-04 में वृद्धि दर 8.5 प्रतिशत रही जो कि बढ़कर 2006-07 में 9.6 प्रतिशत हो गई तथा 2010-11 में 8.5 प्रतिशत रही है। हालांकि विकसित देशों के मुकाबले में काफी कम है परन्तु एशियाई देशों के संदर्भ में संतोषजनक है। प्रतिव्यक्ति आय पर दृष्टि डाली जाये तो 2004-05 में स्थिर मूल्यों पर प्रति व्यक्ति आय 33,731 रु. थी तथा मौजूदा मूल्यों पर 46492 रु. थी तथा 2010-11 में स्थिर मूल्यों पर 36,003 थी तथा मौजूदा मूल्यों पर 54527 रु. थी। 2005 से 2010 के बीच देश का जीडीपी औसतन 8.5 प्रतिशत की दर से बढ़ा है तथा गरीबी की रेखा के नीचे जीवन यापन करने वालों की संख्या में भी काफी कमी आई है। 2004-05 में गरीबी रेखा 37% से 2011-12 में लगभग 22% रह गई है।

आज भारत विश्व की चौथी सबसे बड़ी अर्थव्यवस्था वाला देश है तथा आगामी 10 वर्षों में जापान को भी पीछे छोड़ देगा। परन्तु आर्थिक विकास की इस तस्वीर का दूसरा पहलू यह है कि इस विकास की छाया प्रभाव सभी पर एक समान नहीं पड़ा है। यह असमानता व्यक्ति तथा प्रान्त दोनों स्तरों पर देखी जा सकती है। आज कुछ व्यक्ति घराने बहुत सम्पन्न हुए हैं तो विपन्न व्यक्तियों की संख्या भी विलुप्त नहीं हुई है। कोई प्रान्त बहुत विकास को प्राप्त कर चुका है तो कुछ राज्य बीमारू एवं पिछड़े की श्रेणी में अभी भी बने हुए हैं।

1991 के बाद भी भारतीय अर्थव्यवस्था उच्चतर विकास दर की साक्षी रही है, खासकर 21 वीं सदी के प्रथम दशक में विकास योजना के प्रथम तीन दशक में हिन्दू विकास दर के 3.5 फीसदी प्रतिवर्ष से बढ़कर 1991 के सुधारों के बाद 7 फीसदी प्रतिवर्ष पर पहुँच गया जो कि कुछ वर्षों बाद बढ़कर 9 फीसदी के आंकड़े तक पहुँच गया। लेकिन वृद्धि में इस तेजी के बीच क्षेत्रों के बीच और लोगों के बीच असमानता में तेजी आई और क्षेत्र में गरीबी और सम्बन्धित वंचनाएँ खासतौर से समाज के कम सुविधा वाले खण्डों में।

यह असमानता प्रतिव्यक्ति आय में काफी मात्रा में है। 2009-10 में भारत की प्रति व्यक्ति वार्षिक आय 46,492 रु थी वहीं गोआ जैसे छोटे राज्य की 132,719 रु वार्षिक तथा चण्डीगढ़ की 120,912 रु वार्षिक एवं तीसरे स्थान पर 116,886 रु वार्षिक दिल्ली की थी वहीं दूसरी ओर नागालैण्ड की 22,418 रु वार्षिक व मणिपुर की 28,531 रु वार्षिक मात्र थी। यहीं असमानता राष्ट्रों में क्षेत्रवाद की भावना को पनपाती है जो कि राष्ट्रीय एकीकरण की एक प्रमुख बाधा है।

आजादी के बाद भारत को अपनी परिस्थितियों के मद्देनजर मिश्रित अर्थव्यवस्था के स्वरूप को अपनाया था जिसमें 25-30 प्रतिशत पर निजी क्षेत्र का तथा 70 प्रतिशत लगभग पर सार्वजनिक क्षेत्र का स्वामित्व था। परन्तु 1990 के दशक के बाद वैश्वीकरण की बयार ने सम्पूर्ण विश्व को अपने में लपेट लिया तथा वैश्वीकरण के सहयोगी उदारीकरण व निजीकरण अर्थात् एलपीजी (उदारीकरण, निजीकरण, वैश्वीकरण) का परचम सम्पूर्ण विश्व पर छा गया तथा सम्पूर्ण विश्व एक गाँव की तरह बन गया। राष्ट्रों के बीच भौगोलिक दूरियों का कोई महत्व नहीं रहा और इस वैश्वीकरण का सबसे अधिक सकारात्मक प्रभाव आर्थिक और व्यापारिक विकास पर पड़ा। भारतीय अर्थव्यवस्था क्रमशः वैश्विक अर्थव्यवस्था से एकीकृत होती चली गई।

भारत की जी डी पी में पिछले एक दशक में चार गुनी वृद्धि दर्ज की गई जो कि वर्ष 2001 में 540 अरब डॉलर से बढ़कर 1800 अरब अमेरिकी डॉलर से ज्यादा हो गई। भारत का विदेशी मुद्रा भण्डार जो कि 1991 में 58340 लाख अमेरिकी डॉलर था व दिसम्बर 2011 में 60 गुना बढ़कर 2966890 लाख अमेरिकी डॉलर हो गया।

भारी जनसंख्या वृद्धि के बावजूद प्रति व्यक्ति जी डी पी 10 वर्षों

में दो गुना होकर 2001 में 452 अमेरिकी डॉलर और 2012 में 837 अमेरिकी डॉलर हो गया। आज अमेरिका, यूरोपीय समुदाय सभी भारत के व्यापारिक साझेदार हैं तथा सभी राष्ट्र भारत के साथ व्यापारिक सम्पर्कों के लिए लालायित हैं क्योंकि भारत के पास सबसे बड़ा विशाल मध्यम वर्ग तथा बाजार है।

परन्तु तस्वीर का दूसरा पहलू यह है कि इस आर्थिक समृद्धि के युग में व्यक्ति - व्यक्ति के बीच असमानता में बेतहाशा वृद्धि हुई है और यही बहुत बड़ा कारण है राष्ट्रीय एकीकरण में बाधा का।

एक तरफ आसमान छूती अटॉलिकाएँ हैं तो दूसरी ओर दो वक्त की रोटी करोड़ों लोगों को नसीब नहीं होती और ये धीरे - धीरे अपने आपको सरकार, राष्ट्र से पृथक समझने लगते हैं और कोई अलगाववादी व आतंकवादी समूह इन पर दया का ऊपरी प्रदर्शन कर इन्हें अपने चंगुल में फँसा लेता है। क्षेत्र विशेष तथा समुदाय विशेष में सामान्य हितों के आधार पर बना लेते हैं। हालांकि सरकारी स्तर पर विभिन्न प्रकार की योजनाएँ भी इनके कल्याणार्थ बनाई जाती है परन्तु बहुत से लोगों को तो इनकी जानकारी नहीं होती तथा भ्रष्टाचार की वजह से आधे लाभ ही जरूरतमंदों तक पहुँच पाते हैं।

आधुनिकता की अन्धी दौड़ में व्यक्ति सांस्कृतिक मूल्यों को भूलता जा रहा है वह केवल भौतिक सुख सुविधाओं तथा धन दौलत हासिल करने को अपा मूल लक्ष्य मान बैठा है। वास्तविकता यह है कि व्यक्ति का गलत सोच तथा आदतों के कारण विघटन हो रहा है, परिवार का विघटन हो रहा है, समाज का विघटन हो रहा है और अंततः राष्ट्र का विघटन हो रहा है। क्योंकि व्यक्तियों से ही राष्ट्र तथा व्यक्तियों की भावनाओं से राष्ट्रीयता का निर्माण होता है।

क्या किया जाना चाहिये :-

प्रारम्भ से ही बच्चों की मानसिकता का निर्माण इस प्रकार से करना चाहिये कि वह अपने से प्रेम व अपनत्व की भावना रखे। एक दूसरे के लिए त्याग की भावना भी बच्चों को शुरू से ही सिखानी चाहिये। इसमें परिवार तथा प्राथमिक स्तर के शिक्षा संस्थान सर्वाधिक भूमिका निभा सकते हैं। बच्चों को शुरू से ही राष्ट्र प्रेम, राष्ट्रीय एकता तथा अखण्डता का वह महत्व समझने लगता है।

चुनाव प्रणाली व प्रक्रिया के दौरान बुद्धिजीवियों को कोशिश करनी चाहिये कि जाति व धर्म आधार पर मतदान न करके काबिल व्यक्ति को विजयी बनाये जकि सभी का समान रूप से प्रतिनिधित्व करे।

सबसे अधिक महत्व की बात है कि जातिगत भेदभाव समाज से जड़ से खत्म करना चाहिये क्योंकि यही वह आधार है जो व्यक्ति-व्यक्ति के बीच कमी न पाटी जा सकने वाली खाई पैदा करता है। व्यक्ति आर्थिक व शैक्षिक स्तर पर काबिल होने के बावजूद सामाजिक आधार पर जब उसे पूर्ण सम्मान नहीं मिलता तो वह कुण्ठा का शिकार हो जाता है।

सर्वाधिक आवश्यकता शिक्षा के विकास पर ध्यान देने की है। आज

आजादी के 65-66 वर्ष के बाद भी हम आंकड़ों में 74 प्रतिशत को छू पाये हैं जिसमें पुरुषों में 82 प्रतिशत व महिलाओं में 52 प्रतिशत लगभग ही है। यहाँ कुछ तबके ही शिक्षा के क्षेत्र में अग्रणी रहे हैं क्योंकि शिक्षा रूपी तिलक भी चेहरा, वर्ण, वर्ग, जाति के आधार पर निकालने की प्रवृत्ति रही है। बीच के कुछ वर्षों में शिक्षा सरकारी स्वामित्व में थी तो जरूर गरीब व पिछड़े तबके की शिक्षा के क्षेत्र में दखल शुरू हुई परन्तु अब शिक्षा के निजीकरण व व्यवसायीकरण के कारण उच्च शिक्षा मात्र धनवानों का खेल रह गई है। जापान ने 150 वर्षों पूर्व ही शिक्षा का महत्व समझ लिया व विकास भी किया और हम आज भी वाजिब मुकाम से काफी दूर

हैं। एक शिक्षा ही वह तत्व है जो बहुत सारी समस्याओं का हल प्रस्तुत कर सकती है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची :

1. कृष्णानन्द शुक्ल, राष्ट्रीय एकीकरण और सुरक्षा
2. कृष्णानन्द शुक्ल, राष्ट्रीय एकीकरण और सुरक्षा
3. वर्ल्ड फोकस, फरवरी-मार्च, 2013
4. वर्ल्ड फोकस, फरवरी-मार्च, 2013
5. वर्ल्ड फोकस, फरवरी-मार्च, 2013



‘समय के निष्कर्ष पर कुंदन सी दमकती तुलसी की सृजनात्मकता’

डॉ. रेखा गुप्ता

विभागाध्यक्ष, हिन्दी विभाग

कानोदिया पी जी महिला महाविद्यालय, जयपुर

गोस्वामी तुलसीदास के जन्म को लगभग 500 वर्ष बीत चुके हैं। विगत पाँच शताब्दियों में काशी के घाटों से न जाने गंगा का कितना जल प्रवाहित हो चुका है, कितनी संस्कृतियाँ और विचारधाराएँ पनपी और विलुप्त हो चुकी हैं, कितने साम्राज्य आए और कितने धूल धूसरित हो चुके हैं। परिवर्तन की विराट शक्ति और काल के निर्गम प्रहार से कोई नहीं बच पाया, लेकिन जो विचारधाराएँ पतित को पावन बनाने में सक्षम हो, उन्हें काल का कैसा डर ?

मैं हरि पतित पावन सुने

मैं पतित हरि पतित पावन, दोऊ बानक बने।

तुलसी का साहित्य ऐसे ही पतित पावन राम की उस भक्ति से ओत-प्रोत है जो सांस्कृतिक अम्युथान के उन जीवन-मूल्यों को अपने में समाहित किए हुए है, जिसका महत्व कभी कम नहीं होगा। तुलसी साहित्य विशेषकर रामचरितमानस हमारी ऐसी ही विरासत है जो समय के साथ अधिकाधिक समृद्ध होती जाती है।

किसी साहित्य की मीमांसा करते समय हमें यह समझना होगा कि साहित्यकार का दायित्व दोहरा होता है। वह जिस युग में रहता है उस युग की बाह्य स्थितियों का चित्रण तो वह करता ही है, साथ ही युगचेतना, धर्म, दर्शन, अध्यात्मादि को भी गंभीरता से परख कर अपने साहित्य में समाविष्ट करता है। तुलसी साहित्य में लोक चेतना एवं आध्यात्मिक चेतना दोनों का सुंदर समिश्रण है।

तुलसी का समय सामंती युग की विखंडित कलहपूर्ण शासन व्यवस्था से संतप्त एवं लोक जीवन की व्याथा से व्यथित था। एक ओर मुगल सम्राटों का ऐश्वर्य व वैभव अपने चरम पर था तो दूसरी ओर उनका अत्याचार मानवता का हनन कर रहा था।

खेती न किसान को, भिखारी को न भीख,

बलि बनिक को बनिज, न चाकर को चाकरी।

राजकीय व्यवस्था के अन्याय-अत्याचार से जनता परेशान थी। समाज में तंत्र-मंत्र, चमत्कार, शगुन-अपशगुन, अंधविश्वासादि बढ़ते जा रहे थे। ऐसी स्थिति में निरावलम्ब, भग्न हृदय जनता एक ऐसे संबल की खोज में थी जो निराश-हताश जन-समूह को आश्वस्त कर सके। तुलसी ने ऐसे में रामकथा के रूप में संजीवनी प्रस्तुत कर मानवता को नवजीवन प्रदान किया। रामचरितमानस की रचना का उद्देश्य यद्यपि तुलसी ने ‘स्वान्तः सुखाय’ बताया है किन्तु इसके अध्ययन से स्पष्ट है कि वे तत्कालीन जनता के दुख को दूर कर, सबके कल्याण के लिये रचना करना चाहते थे।

कीरित भनिति भूति मलि सोई। सुरसरि सम सबकर हित होई।

उनकी दृष्टि में वही कवित उत्तम है जो मंगलकारिणी हो।

मंगल करनि, कलिमल हरनि, तुलसी कथा रघुनाथ की।

मानस की रचना कर उन्होंने व्यक्तिगत, सामाजिक, राजनीतिक सभी धरातलों पर नैतिक आदर्शों को व्यावहारिक सार्थकता प्रदान की है। उन्होंने अपने समय की अव्यवस्थाओं से क्षुब्ध होकर ही आदर्श नायक, आदर्श परिवार, आदर्श समाज और आदर्श राज्य की कल्पना की ताकि समाज के सम्मुख एक मानदण्ड स्थापित हो सके। हालांकि ऐसे आदर्शवादी पात्रों की कल्पना ही आज अविश्वसनीय लगती है, पर तुलसी ने कोरी कल्पना में नैतिकता के आदर्श नहीं गढ़े वरन् अपने पात्रों से उनका पालन भी करवाया है। वे तो स्वयं कोरे उपदेशों को निरर्थक मानते हैं—

पर उपदेश कुशल बहुतेरे। जे आचरहिं ते नर न घनेरे।

राम के जीवन में भारतीय संस्कृति के उच्चतम आदर्श संरक्षित है। कल्याणकारी राज्य की स्थापना की जिसमें सत्य, न्याय और धर्म को आधारशिला बनाया। शत्रु पर विजय के लिए ऐसे धर्मरथ की कामना की जिसमें शौर्य व धैर्य के पहिए, सत्य व शील की ध्वजा, बल, विवके, दम तथा परोपकार रूपी चार घोड़े, क्षमा, दया व समता की डोरी तथा ईश्वर भजन रूपी सारथी हो, वैराग्य की ढाल और संतोष की तलवार हो। 'ऐसे संघमी रथी से ही पराक्रमी रावण का वध संभव है। तत्कालीन परिस्थितियों में जहाँ अपने वर्चस्व के लिये राजसत्ताओं के स्वार्थ टकराया करते थे, रामराज्य की कल्पना निसंदेह अनुकरणीय साध्य था। आज भी जब हम लोकतांत्रिक समाजवाद की बात करते हैं तो रामराज्य सैसे आदर्शवादी राज्य की कल्पना ही मन को उमरती है। तभी तो गाँधीजी ने भी 'स्वराज' को 'रामराज' के पर्याय के रूप में ही देखा था, जिसमें साधन और साध्य दोनों की पवित्रता पर विशेष बल दिया गया था।

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवसि नरक अधिकारी।
कहकर राजधर्म में प्रजा के हित को सर्वोपरि माना है, पर आज सब कुछ उलट-पुलट गया है। नेताओं को प्रजा के दुःख से कोई लेना देना नहीं है क्योंकि उनके मन से नरक का डर समाप्त हो गया है। वे तो इसी जन्म में अनेक जन्मों के सुख को भोग लेना चाहते हैं। आज राजनीति में इतनी गिरावट आ गई है कि नित नए घोटाले सामने आ रहे हैं और नेता उन पर पर्दा डालने के प्रयास में जुटे रहते हैं।

प्रश्न उठता है कि आज ऐसी स्थिति आई ही क्यों? क्योंकि हमने नैतिकता को ताक पर रख दिया है। तुलसी ने भरत को राजपद दिलाकर भी जिस त्याग-तप और परिपक्वता से मंडित किया, आज वैसी कोई अपेक्षा करना निश्चय ही बेमानी होगा, किन्तु इतना तो कहना ही पड़ेगा कि जब तक नैतिकता के सामान्य मूल्यों को सामान्य जीवन एवं राजनीति में नहीं लाया जाता, तक तक सुधार की गुंजाइश कम ही है।

मानस में ऐसे अनेक प्रसंग हैं जिनके माध्यम से तुलसी ने समाज में ऊँच नीच, जाति, वर्ण या धर्म के आधार पर फैले भेदभाव को दूर करने की कोशिश की। हालांकि अनेक स्थल ऐसे भी हैं जहाँ वे परम्परावादी सोच से ऊपर नहीं उठ पाए हैं। वर्ण, आश्रम, धर्म के निर्वाह को वे समाज हित में ठीक मानते थे फिर भी अनेक स्थानों यथा—श्रृंगवेरपुर में निषाद से राम मिलन, केवट प्रसंग, चित्रकूट

के कोल भीलों द्वारा राम का सेवा सत्कार, राम भरत मिलन, जनक जी का चित्रकूल पहुँचना, अहिल्या का उद्धार, शबरी पर कृपा दृष्टि आदि में प्रेम को सर्वोपरि मानते हुए सामाजिक समरसता स्थापित करने का प्रयत्न किया है।

रामहिं केवल प्रेम पियारा। जान लेहु जग जान निहारा।

तुलसी की मूल भावना को न पकड़कर अनेक स्थानों पर आए वर्ण, वर्ण, धर्म या नारी विषयक प्रसंगों के हवाले से कभी उन्हें सामंतवादी सोच को साबित करने का प्रयत्न किया जाता है और कभी अति आदर्शवादी/वस्तुस्थिति को सही परिप्रेक्ष्य में जाने बिना आरोप लगाना कहीं तक उचित माना जा सकता है। तुलसी वर्ण व्यवस्था का समर्थन करते प्रतीत होते हैं पर इस समर्थन के पीछे भी उनका एक बड़ा उद्देश्य और अनिवार्य कारण था। तुलसी का समय हिन्दु समाज के आंतरिक विघटन का समय था। छोटे-छोटे संप्रदायों के आपसी संदर्भों और कर्मकांडों में सारी सामाजिक व्यवस्था चरमारा रही थी। तुलसी इसी टूटती हुई सामाजिक व्यवस्था से चिंतित थे और संभवतः इसीलिए उन्होंने वर्ण व्यवस्था के समर्थन की बात की। राम विलास शर्मा ने भी कहा कि, "वर्णधर्म के समर्थन को तुलसीदास के विचारों की ऐतिहासिक सीमा स्वीकार किया जा सकता है।"²

तुलसी ने सीता तथा अन्य नारी पात्रों के प्रति पूर्ण सम्मान प्रकट किया है। उन्हें शालीनता, लज्जा, विश्वास, प्रेम का आधार माना है परन्तु अनेक स्थानों पर उनके विचार सामान्ती व्यवस्था के घोटक हैं। वे स्त्री को स्वतंत्र अस्तित्व के रूप में प्रतिष्ठित नहीं कर सके। इसका कारण तत्कालीन रूढ़ समाज था जो स्त्री तथा शूद्रों के प्रति अनुसार व कट्टर था। हमारे देश के पुरुष प्रधान समाज में आज इतने वर्षों के बाद भी स्त्री के प्रति हमारा दृष्टिकोण बहुत ज्यादा नहीं बदल पाया है। समानता के अधिकार के लिए उसकी लड़ाई जारी है। तमाम नारी मुक्ति आंदोलन और स्त्रीविमर्श के सेमीनार भी उसे वह स्थान नहीं दिला पाए जिसकी वह अधिकारिणी है तो फिर तुलसी से ऐसी आशा कैसे की जा सकती है। तुलसी ने तो नारी के प्रति सम्मान ही दर्शाया है। अहिल्या का उद्धार हो या शबरी की प्रेम भक्ति, कैकेयी का पश्चाताप हो या राम वन गमन के अवसर पर राम के मन में सीता के प्रति प्रेम, सभी जगह स्त्री भावनाओं का पूरा सम्मान किया गया है। वन गमन के समय सीता जब धोड़ा सा चलकर थक जाती है तो राम की आँखे उस पीड़ा से भर आती हैं।

पुर ते निकसी रघुवीर वधू धरि धीरे दिए मग में एक है
झलकी भरिभाल कनी जल की, पुट सूख गए मधुराधर वै
तिय की लख आतुरता पिय की, अँखिया अति चारू चली जल छै

तुलसी के हृदय में स्त्री के कोमल भावों को परखने की अपूर्व क्षमता थी तभी तो राम सीता के दुख का अनुभव करते हैं और उन्हें विश्राम दिलाने के उद्देश्य से काँटा निकालने की मुद्रा में पर्याप्त समय व्यतीत करते हैं—

तुलसी रघुवीर प्रिया श्रम जानिकै, बैठि विलम्ब लौ कंटक काढ़े।
पत्नी के प्रति ऐसी कोमल भावनाओं को रखने वाले तुलसी का हृदय स्त्रियों के प्रति कठोर या अनुदार कैसे हो सकता है। ऐसे भाव

तो आज महिला आंदोलन का समर्थन करने वाले पुरुषों में भी दुर्लभ है। इसलिए हम कह सकते हैं कि तुलसी के वर्ण व्यवस्था एवं नारी संबन्धी तमाम विचार तत्कालीन परिस्थितियों का परिणाम है। अनेक प्रसंगों में उन्होंने उनका निराकरण कर सामाजिक समरसता स्थापित करने का सुन्दर प्रयास किया है और अनेक स्थानों पर वे ऐसा करने में सक्षम नहीं हो पाए हैं किन्तु उन्हें आज इन वैचारिक मतभेदों के कारण नहीं प्रत्युत उन मूल्य गत विचारों के कारण याद किया जाता है जो जीवन को नई दिशा देते हैं। तुलसी के पारिवारिक संबन्धों में पिता-पुत्र, पति-पत्नी, भाई-भाई, माता-पुत्र, स्वामी-सेवक इनके जैसे आदर्श और प्रगाढ़ संबन्ध प्रस्तुत किए हैं क्या आज हमारे संबंध ऐसे विश्वसनीय रह गए हैं? अर्थोपार्जन की अंधी दौड़ में भावनाएँ- संवेदनाएँ समाप्त हो गई हैं। सामाजिक हित की अपेक्षा व्यक्तिगत हित प्रधान होता जा रहा है। जब निजी पारिवारिक संबन्धों को संरक्षण देने की हमारी सामर्थ्य ही समाप्त होती जा रही है तो मानवीय संबन्धों की चर्चा हम किस मुँह से कर सकते हैं? आज का साहित्य, धर्म, दर्शनादि भी जीवन को दिशा न देकर मात्र यथार्थ चित्रण का दामन धामें आगे बढ़ रहे हैं। उनके अक्षरों और उनमें निहित अर्थों से हमारे जीवन का कोई रिश्ता नहीं जुड़ पाता। भौतिकवाद से प्रभावित मनुष्य की भावनाएँ अपनी स्निग्धता खोती जा रही हैं। ऐसे में तुलसी का संदेश है कि जीवन के विभिन्न पहलुओं जैसे अध्यात्मिकता और भौतिकता, व्यक्ति और समाज, चिन्तन और कर्म, ज्ञान और भक्ति, लोक और शास्त्र, सगुण और निर्गुण, वैराग्य और गृहस्थ में सुन्दर समन्वय होना चाहिए। संतुलित विकास के लिए तुलसी ने समन्वय की विशद व्याख्या की है। उन्होंने अपने समय की असंगतियों की गहराई से जांच की थी और तभी समन्वय का मार्ग प्रशस्त किया था। उनके पूर्व के उच्छ्वंखल समय में सगुण निर्गुण का द्वन्द्व चल रहा था। जनता परेशान थी इसलिए उन्होंने दृढ़ता पूर्वक कहा-

सगुणहि अनुनहि नहिं कछु भेदा, गावहिं मुनि पुराण बुध बेदा अगुण
अरूप अलख-अज जोई, भगत प्रेम बस-सगुन सो होई।

वे स्पष्ट करते हैं कि जो अगुण, अरूप, अलक्ष्य है, वही गहरी प्रीति से सगुण, रूपवान और मानवीय हो जाता है। प्रेम में अवलम्बन अनिवार्य है वह भक्ति का सरल मार्ग है जो जीवन को अध्यात्म से जोड़ता है।

यह सच है कि अतीत में धर्म ने अनेक लोगों को संबल प्रदान किया, किन्तु आज धर्म से उस तरह का काम नहीं चल सकता, बल्कि आज तो जीवन धर्म की सीमा से निकल कर विज्ञान के दायरे में आ गया है। आधुनिक मनीषी मानव समाज में उपस्थित समस्याओं का हल

खोजने में व्यस्त है पर ऐसा कोई उपाय नजर नहीं आ रहा जो उसे शांति प्रदान कर सके। विज्ञान अपनी उन्नति के चरम पर है, भौतिक सुख साधनों का अंबार है, पर मनुष्य उन सुख सुविधाओं के बोझ तले दबा छटपटा रहा है। भौतिक साधनों का उत्तरोत्तर विकास उसे अधिक अशांत और तनावग्रस्त बना रहा है। ऐसे में तुलसी की पक्तियाँ याद आती हैं कि-

छूटहिंमल किमलहिंके घोए। घृत कि पाव कोई बारि बिलोए।

भौतिक साधन भौतिक सुख ही दे सकते हैं मानसिक सुख नहीं। जीवन से अध्यात्म को हटाकर शांति की कामना जल को बिलोकर घी निकालने के समान असंभव है। मनुष्य जीवन केवल शरीर तक ही सीमित नहीं है। वह उससे परे भी है। शांति का संबंध उसी 'पर' से है। उस तक पहुँचने के लिए विज्ञान को अध्यात्म से जोड़ना ही होगा इसीलिए तुलसी आज भी प्रासंगिक हैं। उनकी रामकथा परमार्थिक होते हुए भी जीवन से असंपृक्त नहीं रही। राम परमब्रह्म होते हुए भी सामान्य मानव के उदात्त लक्षणों से युक्त हैं।

वे अपने काव्य में भक्ति के माध्यम से जनता में उन जीवन मूल्यों के प्रति आस्था उत्पन्न करने में सफल रहे हैं जो न केवल उनके समय में बल्कि आज और आने वाले समय में भी मूल्यवान सिद्ध होंगे।

आज जहाँ भौतिक सुख सुविधाओं की लालसाओं ने आस्था को हिला दिया है, विश्वास को तोड़ दिया है, चरित्र को अमर्यादित बना दिया है, मन को संशयग्रस्त कर दिया है, वहाँ राम का चरित्र आशा और विश्वास जगाता है। संशयग्रस्त मानवता के लिए रामकथा एक अनूठा वरदान है। तुलसी ने भी लिखा है-

रामकथा सुन्दर करतारी, संशय विहग उडावन हारी।

संशय का नाश होते ही मन श्रद्धा और विश्वास वहन करने की योग्यता प्राप्त कर लेता है और जब मन में श्रद्धा, विश्वास और आस्था आ जाती है तो एक नई जीवन दृष्टि प्राप्त होती है जो सृजनात्मकता में चार चाँद लगा देती है। तुलसी के साहित्य के अमरत्व का भी यही कारण है। इसी से उनके साहित्य में स्थापित मूल्य समय का अतिक्रमण कर सार्वकालिक और मंगल भवन अमंगलहारी हो गए हैं।

संदर्भ ग्रन्थ सूची :

1. लंका कांड मे 79 से 80 दोहे के बीच की चौपाइयों
2. प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ-रामविलास शर्मा, पृ. 168

Role of Teacher Educator in Improving Quality in Teacher Education

Ramesh Kumar Awasthi, Reeba Devi

Asstt. Professor

Beacon Institute of Technology, Meerut

Shodh Shree



shodhshree@gmail.com

“Vision Worth Working Towards” There are at least four levels of vision for using technology to improve access and quality of education. The first vision is almost like assirage, imaging that technology is magic. The second level of vision is to use technology in activities that only increase access to use technology to improve the quality of learning.

Development of any societies depends upon the dynamic nature of its education system. If the education system is dynamic futuristic and challenging it would lead to the development of the society and vice-versa. The development of education system depends on its planners, administrators, educationists and the teachers. Keeping all the things constant, one thing i.e. teaching can be manipulated to make an education system developed. That's why it is said that good teacher's can change the facts of nation. Transformation in classroom can be brought out by effective and efficient teachers.

To prepare effective and efficient teachers, those can manage the society of the speed of change there is a need of dynamic, contingent and pray magic teacher education system. Such a system can prepare front line teachers, who can marine the education system according to the need of society and can prepare right kind of man power to face the future.

Teacher Education System:

The curriculum gets outdated in vide of the fast changing need of the society, curricula and course studies were developed to create man power for present need of society and it was assigned that those course and curricula will be useful for few year to come. Due to the fast charging world, we are in need of future oriented course and curricula today. Now new development seem to be claiming appropriate place in the curricula urgently and hence there has to be some provision for accommodating such area in the existing curriculum in very two-three years. The present curricula should be improvement for such inputs and to accommodate inputs of future needs and demands.

Today's teacher education system in same with the charging need of the society and particular the changing needs of the school education. There is a need to design, develop and implement a similar type of curriculum for all stages of teacher education programmes. According to the charging need of school curriculum some of the learning areas that would deserve inclusion the curriculum of some of the teacher education institutions right now could be the latest development in information communication technology and recent health issue.

Energy and environment disaster management etc. There is a need for keeping space in the existing curriculum of pre-service Teacher Education programmes in the subject like education, in emerging, India society educational psychology, class room management, ICT evaluation and management, methods of teaching subjects like science, maths, social science and special area like guidance & course computer education, educational technology & health education. Its needs to help teacher education programme to accommodate need researches. Innovation, skills methods and approaches to prepare dynamic and assign teacher trainees to handle the curriculum of school education.

Role of Teacher Educator

The teacher educators share much to contribute to the development of quality amongst the teacher. In this crucial period, there is a need for the teacher educators to change their role to improve the quality of teacher training because teacher educations are bearer of knowledge and knowledge to be developed by pupils through the learning experiences. From executors of teacher procedure recommended by others to designers or adaptors of such procedure and from being isolated individuals in their class rooms to being co-worker collaborating in the improvement of teaching and learning. Teacher educators roll will be change from teacher to knowledge workers consultant's and course less. The time may come when students may come to teacher's very rarely. Which may create a downfall of face to face teacher education programme.

In the fast changing scenario of global world there is a need of creating a learning society on the four pillars of education i.e. learning to know, learning to do, learning to live together, and learning to be, to face the challenges of future education. The world is shrinking to a global village due to the foster change in information and communication technology.

Hence there is a fact need to their globally and to act locally. We have to line together through working together.

The teacher educators have much to contribute to the development of quality amongst the teachers. It is high line that they understand their role teacher than simply criticize the system in the name of NCTE. If they do not contribute they will none from the current marginalized status to the one of irrelevance. They will have to respond at both conceptual/empirical and pedagogical levels (liston et. Al. 2008) The first and foremost thing is that they will have to accept the existing realities of the world. Privatization has

entered educational system and they cannot done it at any cost.

The quality in teacher education institution the evaluation of quality is a must. Quality parameters have already been developed by NCTE, UGC, and NAAC, like curriculum framework and planning, curriculum transaction & Evaluation, research development, and exterition, infrastructure and learning resources, student support & progression, organization and management; work load allocation and other more criterion for accrediting and assessment of the teacher education college.

How to Improve in Teacher Education

Teacher educators have never taken the aspects of professionalism very resource by they have been criticizing the process of teacher education tacher than providing answer to problem faced by them. However, NCTE was established in 1993 by the act of parliament to give the tinge of professionalism to teacher preparation program.

Preposition of college/university teachers regarding five important aspects contributing to effecting teaching based on open questionnaire indicates that:

1. Most important characteristics of teachers contributing effective teaching were compromise knowledge interested enthusiastic good presentation skills, encourage active participation and provide prompt feedback.
2. Most important student characteristics contributing effective teaching were lively motivated, attentive, curious, participative and having high expectations.
3. Most important characteristics of administrative contributing effective teaching were supportive unbiased, well organized, democratic, mutual respects and flexibility in behavior
4. Most important teaching methods contributing effective teaching were texture with tools and techniques of educational technology use of small group & seminar, visit, participate method and team teaching.
5. Most important institutional culture contributing. Effective teaching was open & encouragement for good work, relationships between student and staff and supporting.

Lifelong learning culture for teacher education

The teacher education programme can be made successful by efficient working to achieve genuine ambitions in maintaining global standards suggestion for the enlightenment of quality in teacher education.

Existing Technology

- A. Lecturing
- B. Group discussing
- C. Excavation
- D. Guest lecturers
- Project work

Suggested Technology

- A. Library assignment
- B. Self study
- C. Field study
- D. Case study
- E. Practical training
- F. Seminar
- G. Simulation
- H. Audio-visual aids
- I. Brain storming study
- Rapid reading

Conclusion

Teacher educators should internalize their changing roll and make themselves ready for this change and accept their changing roll according to the changing world. Teacher educator can play important role for improving human being society and country so teacher educator should be punctual regular and sympathetically to the trainees. All the stake holder monitor the powers of teacher education system. NCTE is the controlling body of teacher education so give more attention of quality in education for teachers trainees.

In the present day society, the quality has become the key word due liberalization, privatization, and globalization, (LPG). Now a days, there is no existence without quality. In general we can say that quality in education means pursuit of excellence, consistency and fairness, satisfaction of client needs and appropriate development of resources.

References :

1. University News a weekly Journal of higher education Vol. 46, No.46. association of Indian University, New Delhi.
2. Singh Ummed: Quality ethos for effective teaching in higher education, university news vol. 46, No. 46, November 2008, Page No. 106.
3. Singh S.D.: Quality process norms for teacher education system and Role of Teacher Educator, University News Vol. 46, No. 46, Page No. 110-111.
4. Malhotra S.P.: Role of Teacher Educators in Improving Teacher Quality, University News, Vol. 46, No. 46 Page No. 113.
5. Depart of Education (1986); National Policy of education 1986, New Delhi: MHRD Govt. of India.
6. Quality Education in a Global Era: challenges to Quality and opportunities for Diversity, New Delhi: MHRD, Govt of India.

Emerging Technologies in Higher Education

Md. Afroz Alam

Senior Research Fellow, Ph. D. (Education)
Dept. of Education & Training
Maulana Azad National Urdu University
Gachibowli, Hyderabad

Shodh Shree



shodhshree@gmail.com

The 21st century is witnessing an explosion of knowledge in science and technology, specially the information and communication technology. The development of new technologies has generated a considerable amount of excitement among academics because it results in shifting the academic environment from traditional setting to new technology based learning settings. Increasing numbers of institutions of higher education offer courses using emerging technologies as alternative teaching and learning tools. However, regardless of such interests in emerging technologies in higher education, there is lack of academic research on the use of those technologies in the higher education setting.

Higher education includes teaching, research, exacting applied work and social services activities of universities. Within the realm of teaching, it includes both the undergraduate level, and beyond that, graduate-level (or postgraduate level). In many developed countries, a high proportion of the population (up to 50%), now enter higher education at some time in their lives. Higher education is therefore very important to national economies, both as a significant industry in its own right and as a source of trained and educated personnel for the rest of the economy. College educated workers command a significant wage premium and are much less likely to become unemployed than less educated workers. In the history of technology, emerging technologies are contemporary advances and innovation in various fields of technology. Various converging technologies have emerged in the technological convergence of different systems evolving towards similar goals. Convergence can refer to previously separate technologies such as voice (and telephony features), data (and productivity applications) and video that now share resources and interact with each other, creating new efficiencies. Emerging technologies are those technical innovations which represent progressive developments within a field for competitive advantage converging technologies represent previously distinct fields which are in some way moving towards stronger inter-connection and similar goals. However, the opinion on the degree of impact, status and economic viability of several emerging and converging technologies vary. This paper describes how we can transform teaching and learning to prepare students with the skills they need for 21st-century work and citizenship. In addition, immersive interfaces (e.g., virtual worlds, augmented realities) and mobile devices pervade the lives of students outside academic settings. We can build on these media to improve our teaching and assessment and to strengthen the links between life inside and outside the classroom.

Learning with the Internet

The internet is a complex repository containing a huge maze of information from a variety of sources. It has become a prominent source of information for many people worldwide. The Internet wave has also hit the educational landscape in many big ways. The use of emerging technologies such as the Internet as a teaching tool in Universities is not the issue now since it is pervasively used. Rather, the issue is how to effectively employ such technologies and harness fully the new opportunities created by them to promote positive student learning experiences. Universities need to consider how technology based instructional programs are mounted to ensure that students use the Internet efficaciously as a learning tool for various authentic learning activities such as conducting research on a given topic or finding relevant information for an assignment. Bruce and Levin (1997) posit that the Internet can be viewed as providing the following three basic types of tools in the educational domain:

- Tools of inquiry
- Tools of communication
- Tools for construction

In providing tools for inquiry, the Internet facilitates finding sources of information appropriate to a task, working to understand the information resources and how they relate to the task, and if possible applying this understanding in a productive way. The internet enhances students' knowledge acquisition by facilitating student's access to resources from the outside world including experts in the field, as well as interacting directly with them. Thus exposure to real life contexts of the external world trains the students to face the uncertainties of the ever-changing outside world.

In providing tools for communication, the Internet is a remarkable tool for rapid communication. Such communication can be both synchronous and asynchronous and takes on many forms such as e-mail, mailing lists, news groups, chat and video conferencing. Such interaction involves communication with students and professionals in distant places, cultures and traditions as well as facilitating teachers to be in touch with other teachers.

In providing tools for construction, the Internet promotes learning by scaffolding varieties of authentic learning activities for students. Through these activities the Internet also supports the development of students' higher order thinking skills. For example students are able to demonstrate their conceptual understanding by constructing

products such as web pages. In these activities learners regulate their individual learning progress according to their own experiences and expertise. Learners can access a wealth of resources at their own pace and have meaningful interactions with the content information. For instructional activities, the Internet also has the added advantages of being adaptable for both individual and cooperative learning.

Learning by Design: Integrating Technology into the Curriculum

Computers, telecommunications and multimedia can be powerful tools for enriching student learning. They are also an essential part of preparing students for a world characterized by knowledge, work, global communications and continuous learning and change. But in order for technology to be effective in today's education system, it needs to be intelligently integrated into a rich, meaning-centered curriculum. Accomplishing this goal requires designing new kinds of creative learning environments involving the collaboration of all the stakeholders in educational reform- teachers, students, administrators, parents, researchers, the business community, curriculum specialists and technology developers. Student design projects are effective frameworks for integrating technology into the curriculum. Design projects often require effective use of multiple intelligences, develop students' higher order thinking and problem solving skills, sensitize students to creating a product for use by a real client or user audience, and enable diverse forms of collaborative learning in engaging some students whose talents or knowledge are often not recognized in more traditional classroom environments. Design projects also encourage making connections across curriculum areas. For example, in the Institute for Research on Learning's (IRL) Mathematics through Application Project (MAP), students use computer simulation and tools to design dream homes, develop various research stations for scientists living in Antarctica, develop encryption and decoding systems for secret messages, or model population growth of animal species within different ecological systems or habitats.

Knowledge Webs

In two decades, "knowledge webs" will routinely enable higher education students distributed access to experts, archival resources, authentic environments, and shared investigations. Via information infrastructures, educators and pupils will regularly join distributed conferences that provide an instant network of contacts with useful skills, a personal brain trust with just in time answers

to immediate questions. In time, these informal sources of expertise will utilize embedded "groupware" tools to enhance collaboration. Even on today's Internet, on-line archival resources are increasingly linked into the World Wide Web, accessible through "web crawlers" such as Mosaic and Netscape. In the future, Artificial Intelligence-based guides and filters will facilitate learners navigating through huge amounts of stored information. Virtual exhibits that duplicate real world settings will form the basis of most field trips; these environments make possible a wide variety of experiences without the necessity of travel or scheduling. Distributed science projects will enable conducting shared experiments dispersed across time and space, each students learning more than would be possible in isolation about the phenomenon being studied and about scientific investigation. However, access to data does not automatically expand student's knowledge, nor will the mere availability of information intrinsically create an internal framework of ideas that learners can apply in real world settings. While presentational approach transmits material rapidly from source to student, often this content evaporates quickly from learner's minds. To be motivated to master concepts and skills, pre-college students need to see the connection of what they are learning to the rest of their lives and to the mental models they already use. Helping students' progress from access through assimilation to appropriation requires educational experiences that empower knowledge construction by unsophisticated learners, aiding them in making sense of massive, incomplete and inconsistent information sources. As part of using knowledge webs, to move students beyond assimilating inert facts into generating better mental models, teachers will structure learning experiences that highlight how new ideas can provide insights in intriguing, challenging situations.

Virtual Communities

Two decades hence, virtual communities that provide support from others who share common joys and trials will also enhance distributed learning in higher education institute. We are accustomed to face to face interaction as a means of getting to know people, sharing ideas and experiences, enjoying others' humor and fellowship, and finding solace. In the future, distributed learning via information infrastructures will satisfy many of these needs at any time, any place. Some students (shy, reflective, comfortable with emotional distance) even find asynchronous, low bandwidth communication more "authentic" than face to face verbal exchange. They

take time before replying to carefully compose a message, as well as to refine the emotional nuances they wish to convey. This alternative conception of personal authenticity may help us understand how better to tailor instruction for diverse learning styles.

Educators will use the virtual communities' information infrastructures to make it possible to dramatically improve learning outcomes. Learning is social as well as intellectual; individual, isolated attempts to make sense of complex data can easily fail unless the learner is encouraged by some large group that is constructing shared knowledge. Virtually communities enable new pedagogical strategies that facilitate such encouragement and motivation. For example, peer tutoring aids all students involved both intellectually and emotionally, but has been difficult to implement in additional traditional classroom settings. In the future, virtual interactions will readily enable such student-student relationships outside of institute, as well as preparing their participants for later use of distributed problem solving technique in higher education settings. In addition, educators themselves need emotional and intellectual support from others who have similar challenges in their lives. In the future, virtual communities will provide a means of helping teachers find the strength to help learning keep pace with our rapidly changing and increasingly diverse society. Moreover, formal education comprises only a small fraction of how students spend their time. No matter how well learning is done, achieving major gains in learning requires that the rest of pupils' lives be educationally fulfilling as well. This necessitates close cooperation and shared responsibility for distributed learning among society's educational agents (families, social service agencies, workplaces, mass media, schools, higher education).

Mobile Wireless Technologies

The development of mobile wireless technologies has generated a considerable amount of excitement among practitioners and academics because it results in shifting the academic environment from traditional settings to mobile learning settings. For the last several decades, wired technologies have been used by educators, school communicators, students and others in higher education to help them achieving and learning. In this century, however, institutions of higher learning are moving towards the use of mobile wireless technologies. Similar to other wired technologies, mobile wireless technologies have first been used in industry sectors such as business. The movement of mobile wireless technologies in education is recent trend, and it is

now becoming the hottest technology in higher education (Levine, 2002; McGhee & Kozma, 2001; Mc Kenzie, 2001). For the past few years, educators and students in higher education have enjoyed the many benefits of wired technology. However, wired technology provides limited access for usage due to a lack of mobility. In other words, wired technologies cannot provide anytime, anywhere functionality, a benefit now offered by mobile wireless technologies. The use of mobile wireless technologies can overcome the limitation of educational flexibility with wired technology. With the advantages of mobility, mobile wireless technologies help improve efficiency of effectiveness in teaching and learning (Maginnis, White, & Mckenna, 2000).

People often think mobile or wireless technologies are the same as mobile wireless technologies. Strictly speaking, mobile wireless technologies are different from mobile or wireless technologies simply because not all mobile technologies are wireless nor are all wireless technologies mobile. According to Malladi and Agrawal (2002), mobile wireless technologies consist of two aspects- mobility and computing. They claimed that mobile computing represents users' continuous access to network resources without limitation of time and location. Wireless means that transmission of any form of data- text, voice, video or image – is conducted through radio waves, infrared waves or microwaves rather than using wires (Dubendorf, 2003). Therefore, mobile wireless technologies is defined as any wireless technology that uses radio frequency spectrum in any band to facilitate transmission of text data, voice, video, or multimedia services to mobile devices with freedom of time and location limitation. The freedom of time and location is related to the concept of anytime and anywhere access that represents the two main characteristics of mobile wireless technologies- mobility and reachability (BenMoussa, 2003; Camponovo & Pigneur, 2003; Ng-Kruelle, Swatman, Rebne & Hampe, 2002; Turban, Lee, King, Warkentin & Chung, 2002). Mobile wireless technologies use public sections- antennas- or Wireless Access Points (WAPs) that are connected to wired network in a building or public area to give a way of access for web resources and communication for mobile wireless technologies users. With mobile wireless network or service in mobile wireless devices, users can access network information anytime, anywhere. For example, people can carry wireless laptops anytime, anywhere and can access a network in public places, such as an airport and a library. In addition, handheld devices can be carried and connect a network anywhere,

anytime using public stations (e.g., antenna).

An increasing number of colleges and universities are adopting mobile wireless technologies as teaching and learning tools. According to Swett (2002), more than 90% of public universities and 80% of private universities in the US have some level of mobile wireless technologies, such as mobile wireless devices and networks. In the near future, mobile wireless devices and a wireless network may be required for all students at higher education. Heavy investment on educational technology will leave no student behind as new technologies become available for education.

Mobile wireless devices used in higher education

A number of different mobile wireless devices are being used in higher education. These include web-enabled wireless phones (e.g., smart phones), web-enabled wireless handheld computers (e.g., palmtop, and tablet computers), wireless laptop computers and Personal Digital Assistants (PDAs). In learning environments, mobile wireless computers, PDAs and handheld devices are used most often. However some researchers claimed that in the future, more institution of higher education will require mobile wireless phones for students and faculty members for teaching and learning.

Mobile Wireless Computers

Mobile wireless computers commonly called, wireless laptops, and are the most popular mobile wireless technologies used in higher education. Wireless laptops have an integrated wireless card that enables short-range wireless voice and data communications. Unlike wired laptops that use an Ethernet card, also called a NIC or Network card to connect to a network, mobile wireless laptops use a wireless network interface card (WNIC) to connect to a network. WNIC uses a very low radio frequency instead of a wired connection to connect network. There are a number of schools and programs in higher education that requires students to use wireless-enabled laptops in class.

Personal Digital Assistants (PDAs)

In 2000, handheld devices, PDAs, become the newest emerging technology for education. Like the other forms of technology, PDAs were initially used as a tool for business. According to the definition from Webopedia(webopedia.com), PDAs stands for Personal Digital Assistants- a handheld device combining functionalities of computing, telephone, internet and network. PDAs have functionalities such as a cellular phone, fax, organizer, and web browser. Popular PDAs used in education are Hewlett-Packard's Palmtop and 3Com's Palm Pilot.

The University of South Dakota was the first school in the US to initiate a PDA project requiring all first year undergraduate students and first year law and medical school students to have a PDA for their study (Oliver & Wright, 2002).

Mobile Wireless Phones

Mobile wireless phones are the most popular mobile wireless technology used mainly as personal communication tool. Examples of mobile wireless phones include the following:

- **Web-enabled cellula:** similar to cellular, but has a capability of accessing the web. It uses wireless application protocol (WAP) as the system to connect to the internet through a mobile phone. Sometimes, it is called a WAP phone.
- **Wireless handset:** a sort of cellular phone providing a communications system with more features, such as voice-activated dialing, a WAP browser, and two-way text messaging.
- **Smart phones:** a combination of mobile phone and computers.

Compared to wireless-enabled computers of PDAs, mobile wireless phones are still in their infancy for teaching and learning environments. PDAs are often used with wireless services, such as Short Message Service (SMS) and multimedia message service (MMS).

Short Message Service (SMS) and Multi Media Services (MMS)

SMS or text messaging is the transmission of short text message to and from a mobile wireless phone, fax machine and IP address. SMS may be one of the most common wireless applications that are used with mobile wireless phones to support teaching and learning. With SMS, professors and students can send and receive message to and from most modern mobile wireless phones.

Unlike SMS, MMS is the more recent mobile messaging application. Therefore, fewer educational institutions have begun to test MMs as a potential teaching and learning tool. Similar to SMS, the MMS offers automatic and immediate delivery of personal messages. However, MMS can deliver all types of information, such as text messages, sound, images, and video messages. In the near future, the use of SMS and MMS will potentially be increased in education field as technology improves.

With the increasing trend of institutions of higher education to adopt and make use of mobile wireless technology, it is likely that these devices will become

more prevalent on campuses. The influence of this trend remains to be seen.

Wireless Computers

Wireless computers operate in the same ways as a regular computer just without most of the wires. Wireless Network Interface Card (WNIC) that is installed in laptop computers and uses a very low radio frequency instead of a wired connection to connect to a network, sends a very low power signal to a wireless access point (WAPs) installed in buildings a classroom. The WAPs are connected to a wired network (e.g., Local Area Network). Therefore, the WAPs serve as the bridge between the WNIC and the wire network. The WAPs support transmission for many users simultaneously, far more than wired networks. However, using the WAPs to connect a network, the speed of data transmission is limited to 11 Mbps making transmissions slower than wired computers whose speed is 100 Mbps.

PDAs and Mobile Wireless Phones

It is unlikely, the connection of wireless computers to wired network, PDAs, and mobile wireless phones use public stations (e.g., antenna). Therefore, users need to subscribe to wireless services that are provided by wireless service providers. With wireless services subscription, faculty and students simply punch some buttons on their mobile wireless devices to access network. Different infrastructure is required for different mobile wireless devices in order to access network resources. Therefore understanding technical aspects of mobile wireless technology may help users utilizing it more effectively in a case of technical failure.

Conclusion

Emerging technologies in higher education such as mobile wireless technologies are an interesting and very recent addition to the higher education. Their power to change the way of educating people is mind boggling. These are the new frontier for teaching and learning in institutions of higher education. Currently and in the near future many educational opportunities are made possible because of these technologies unique characteristics and positive impacts identified in higher education. Mobile wireless technologies use in higher education will continue to grow and will become the learning environment of choice.

The movement of mobile wireless technologies in education is a recent trend, and it is now becoming the hottest technology in higher education. For many, mobile wireless technologies are still far from being

used in everyday life, like calculators or computers. To use these emerging technologies successfully, administrators, educators, and students must think critically to determine how to use the new technologies to achieve their educational goals, rather than greeting the new technologies with uncritical excitement.

References :

1. Ben Moussa, C. (2003). Workers on the move: New opportunities through mobile commerce, University of Warwick, Retrieved January 20, 2012, from <http://www.warwick.ac.uk>
2. Boggs, R. (2002). ECAR study: Trends in wireless communications in higher education, seminar on academic computing, Retrieved January 22, 2012, from <http://www.educause.edu>
3. Camponovo, G., & Pigneur, Y. (2003). Business model analysis applied to mobile business, Proceedings of the 5th International Conference on Enterprise Information System (ICEIS), Angers, France.
4. Dubendorf, V. A. (2003). Wireless Data Technologies, New York: John Wiley & Sons.
5. Fryer, W.A. (2002). Wireless computing: New opportunities and challenges in education, Retrieved January 22, 2012, from <http://www.wtvi.com/teks>
6. Levine, L.M. (2002). Campus-wide mobile wireless: Mobility and convergence, syllabus.
7. Maginnis, F., White, R., & McKenna, C. (2000). Customers on the move: m-Commerce demands a business object broker approach to EAI, *eAI Journal*, 58-62.
8. Malladi, R., & Agrawal, D. P. (2002). Current and future applications of mobile and wireless networks, *Communications of the ACM*, 45 (10).
9. Mauve, M., Scheele, N., & Geyer, W. (2001). Enhancing synchronous distance education with pervasive devices, *GI Jahrestagung*, 2, 1117-1122.
10. McGhee, R., & Kozma, R. (2001). New teacher and students role in the technology-supported classroom, American Educational Research Association, Seattle.
11. McKenzie, J. (2001). The unwired classroom: Wireless computers come of age, *Educational Technology*, 10(4), Retrieved January 24, 2012, from <http://www.fno.org>
12. Oliver, B., & Wright, F. (2002). The next big thing? Exploiting channels and handheld computers for student learning, Proceedings of the 11th Teaching and Learning Forum, Perth, Western Australia.
13. Seppala, P. (2002). Mobile learning and mobility in teacher training, Proceedings of IEEE International workshop on Wireless and Mobile Technologies in Education (WMTE), pp. 130-135, Vaxjo, Sweden.
14. Seppala, P. & Alamaki, H. (2003). Mobile learning in teacher training. *Journal of Computer Assisted Learning*, 19(3), 330-335.
15. Swett, C. (2002). College students' use of mobile wireless-internet connections becomes more common, *Knight Ridder Tribune Business News*, Washington, DC.
16. Trifonova, A. (2003). Mobile learning-review of the literature, Technology Report, University of Trento, Department of Information and Communication Technology.
17. Turban, E., Lee, J.K., King, D., Warkentin, M., & Chung, M. (2002). *Electronic Commerce 2002: A managerial perspective*, Englewood Cliffs, NJ: Prentice Hall.
18. Yuen, S., & Yuen, P. K. (2003). PDAs as educational power tools. *Tech Directions*. 62(9), 14-17.

DYSCALCULIA: How We Can Deal?

Dr. Vandana Goswami

Associate Professor, Faculty of Education, Banasthali Vidyapith, Tonk

Girija Rautela

Research Scholar, Faculty of Education, Banasthali Vidyapith, Tonk

Shodh Shree



shodhshree@gmail.com

Dyscalculia is a learning disorder which hinders the ability to acquire arithmetic skills that are needed to perform mathematical calculation. It is specific learning disability in which pupils face severe problems in the acquisition in mathematical skills. Though such children have problem with calculation, they may be good at other academic subjects. Dyscalculic children may also have good reading, writing and speaking skills. Children with arithmetic difficulties are found at all age levels and early identification is very important. This disorder can be controlled with appropriate support, guidance and interventions at home and school. Parents should accept the fact that their wards must be left to learn at their own pace of learning, they must consult with their teachers and create a friendly environment which is conducive to their learning. Teacher has to address the special needs of these children. If school teacher gain the insight into the difficulties their pupils face and display the qualities of leadership needed to bring these children out of their isolated world and help them bring out their best, these children can be able to integrate into the rest of society and achieve positions of eminence. Early identification and prevention are needed through intervention strategies for any category of dyscalculic problems of the school children.

Dyscalculia is a learning disability in children. It is a kind of dyslexia and also known as mathematical dyslexia. Although 4-6% of world populations suffer from this disorder hardly anyone known about it. Due to this people do not adopt suitable measures to correct this disorder. If some variations are brought about in teaching methods this disability can be corrected.

Dyscalculia: Children having dyscalculia have difficulty in learning mathematics. This disorder results out of the harm caused to certain parts of brain. However the IQ level of such children is normal. Dyscalculia is also referred as arithmetic difficulty. Children facing this disorder may also have difficulty with calculating time and measurement. Though such children have problem with calculation, they are good at other academic subjects.

Problems Related To Dyscalculia: A number of characteristics of students with learning disabilities and related mild disabilities affect quantitative learning. However each student who encounters difficulties in mathematics is unique not all exhibit the same traits.

In this section we discuss the following characteristics of students who have mathematics disabilities

1. Information-processing difficulties
2. Language and reading disabilities
3. Math anxiety

1. Information-Processing

Difficulties: Many of the element of information-processing are linked to

mathematics disabilities, such as paying attention, visual-spatial processing, auditory processing, memory retrieval and motor skills.

Motor Problems	- Problem in writing numbers, illegible, slow and inaccurate - Difficulty writing number in small space
Attention Problems	- Poor attention doing the steps on mathematics in calculation - Poor attention during mathematics instruction
Problems In Memory And Retrieval	- Cannot remember math facts - Forget the sequence of steps - Forget the multiple steps in word problems
Problems In Visual-spatial Processing	- Frequently loses the place on a worksheet - Difficulty in visual perception of numbers or operational symbols - Problems aligning numbers
Problems With Auditory Processing	- Difficulty with remembering auditory arithmetic facts - Difficulty with "counting-on"

2. Language and Reading Abilites: Early concepts of quantity are evidenced the child's use the language, such as all gone, that's all, more, big, and little. Although some children with mathematics disabilities have superior verbal language skills and may even be excellent readers, for many children the mathematics disability is compounded by oral language and reading deficiencies, their language problem may cause them to confuse mathematics terms such as plus, take away, minus, carrying, borrowing, and place value. Mathematics word problems are particularly difficult for students with reading disabilities. If they are unable to read and do not understand and underlying language structure of the mathematics problems, they cannot plan and perform the task required to solve the problem.

3. Math Anxiety: Math anxiety is an emotional-based reaction to mathematics, which causes individuals to freeze up when they confront math problems or when they take math tests. The anxiety may step from the fear of school failure and the loss of self-esteem. Anxiety has many repercussions. It can block the school performance of students with mathematics disabilities by making it difficult for them to initially learn the mathematics, it impedes their ability to use and transfer the mathematics knowledge they do not have and it becomes obstacle when they try to demonstrate their knowledge and test.

Many students and adults with learning disabilities and related mild disabilities report that anxiety is a

constant companion.

DYSCALCULIA CAUSE: Numerous investigations are being done by scientists to know the exact causes of dyscalculia. Investigation is done in several domains such as neurological deficits and deficits in working memory. Learning disabilities like dyscalculia may be inherited or can be caused by problems with brain development. Exposure to prenatal or environmental traits may also play a role. Other cause may be short term memory being disturbed or reduced making it difficult to remember calculations.

Dyscalculia involves disturbance of quantitative thinking stemming from dysfunction of the central nervous system. This disorder results out of the harm caused to certain parts of brain. Right hemisphere deficits may result in problems in acquiring mathematical skills.

How to Identify The Learner with

DYSCALCULIA in Your Class: Dyscalculic children are found to exhibit various signs and symptoms. There is a range of warning signs that dyscalculics may have in their mathematical difficulties (Hannell, 2005) these includes-

- Slowness in giving answer to mathematics questions in comparison to other learners
- Difficulties in mental calculations
- Using fingers to count simple totals, mistakes in interpreting word problems
- Difficulty to remember basic mathematics facts
- Losing tack when counting or saying multiplication tables
- Difficulty in remembering the steps in a

multistage process

- Difficulties with position and spatial organization

THE MOST PROMINENT SYMPTOMS- are listed below-

- Difficulties in adding, subtracting, multiplying and dividing
- Difficulty in following directions (east, west, north and south)
- Difficulty in conceptualizing time and judging the passage of time
- Difficulty in estimating measurement of objects (length, line and angles)
- Inability to understand the concepts of fractions, place value and quantity, number lines, carrying, and borrowing
- Confusing the mathematical signs and symbols
- Difficulty in comparison of sizes and shapes
- Difficulty in performing basic arithmetic skills like counting
- Problems in differentiating between left and right
- Inability to work with decimals
- Inability to estimate number quantities
- Difficulties with measures and conversion of one measurement to another
- Difficulty in identifying similar signs and numerals
- Difficulty in identifying similar geometrical shapes, difficulty in identifying 3 dimensional figures.
- Inability to organize objects in a logical way
- Inability to comprehend financial planning or budgeting
- Difficulty with verbal use of mathematical aspects

Parents and Teachers Support System for Dealing DYSCALCULIA:

Recommendations to Parents: Dyscalculia is seen to be a developmental as well as acquired learning disability and the effects of this disorder can be controlled with appropriate support, guidance and interventions at home. Parents should accept the fact that their wards must be left to learn at their own pace of learning. When they notice that their wards have severe problems with arithmetic, they must consult with their teachers and create a friendly environment which is conducive to their learning.

Awareness about learning disabilities alone helps parents to give the right type of guidance and support

to their wards. Learning disabled children are found to have average or above average level of intelligence and it is a highly sad condition that many parents are not aware of this fact. They need to understand that children with special needs have to be able to practice what they learn at school in home. Parents need to provide individual attention to their wards to fully grasp certain concepts. Parents should make them to work with individual care after school hours and they can be provided a place to work with few distractions. Parents should seek active co-operation of teachers in making the home atmosphere suitable for their proper emotional development. Also instead of accusing students of being unmotivated and lazy, parents need to observe the children more closely at home and school and have them evaluated by trained personnel for the presence of any type of learning disability. Once parents notice that children have severe problem with academic skills, they should seek help from qualified professionals.

Rehabilitation programmes have to be planned for these children according to their level and also according to the nature of dysfunction. They can encourage their children to develop their learning skills to the maximum extent possible. With proper parental care, dyscalculics can be made to do mathematical calculations in correct ways and hence to develop their academic skills and achievements.

Recommendations to Teachers: Often teachers come across some pupils who may have learning difficulties and are discouraged by their own weakness in their learning. Teaching profession is a very challenging one and teachers have to address the special needs of these children. If schoolteachers gain the insight into the difficulties their pupils face and display the qualities of leadership needed to bring these children out of their isolated world and help them bring out their best, these children can be enabled to integrate into the rest of society and achieve positions of eminence. Awareness about difficulties that dyscalculics face can enable teachers to open their eyes more to the ways of helping them. As a teacher learns about difficulties faced by each student in learning mathematics. He/she can adopt the right kind of instruction to cater to their specific needs.

Special educational programmes can be designed by teachers to meet the special needs of these learners. With proper care and teachers' guidance, dyscalculics can be made to do arithmetic calculations in correct ways. In addition, these children with disability need a great deal of

structured practice and immediate corrective feedback to develop their numerical skills. Repeated reinforcement and specific practice of straight forward ideas can make understanding easier. Many students need individual attention to fully grasp certain concepts and it is the duty of teachers to provide individual care and attention to them to help them cope up with their learning.

Strategies for Overcoming DYSCALCULIA: Dyscalculia is seen to be a specific learning disability and requires diagnosis as well as support apart from classroom teaching. Teachers play a crucial role in diagnosing the learning difficulties of such students and parents are not an exception. It is obvious that these are a need for reliable and supporting strategies that help to overcome this learning disorder. The technological devices fused with the established laws and learning does serve this purpose.

Strategies Using Computer: Computer technology can greatly aid the process of mathematical explorations and clever use of such technology can help engage students with learning disorder. The use of technology like computer-assisted instruction may facilitate. The process of mathematical exploration in dyscalculic learner.

Stultz (2008) was found that a statistically significant difference did not exist between the two methods of instruction and that individual student characteristic or other factors may interact with the method of instruction utilized when teaching students with specific learning disability. Kumar & Raja (2009) found that computer supported instruction enhanced the mathematical ability and academic performance of dyscalculic children.

Other Strategies: It is very essential for school teachers to adopt innovative methods of teaching to meet the needs of dyscalculic learners. Chen (2004) found that behavioral, cognitive and technological-based intervention categories were highly effective for group design studies but moderately effective for single subject design studies and they could be effectively implemented to student with learning disabilities in mathematics. Tavani (2004) studied that testing accommodations may not always help a student with a learning disability and the alternative measures may need to be implemented to help students display their true abilities on mathematics assessments. Shih (2006) studied that student who received repeated practice followed by number sense instruction had better initial performance on fact retrieval and could generalize what they learned to more novel tasks such as solving word problems. Scheuermann (2005) found that participants learned to illustrate and manipulate one-variable equation word problems using multiple illustration modes and

there was an increase in students' ability to transfer their skills to a variety of situations including mathematical notation, textbook word problems and standardized mathematics achievement. Sanders (2007) found that the vocabulary instruction incorporating mnemonic strategies has consistently resulted in substantial increases the learning and retention for students with disabilities as well as non-disabled peers when compared with other approaches.

Dyscalculia is a learning disability which requires special support apart from classroom teaching. However only a very few studies have been focused on the various types of dyscalculia; dyscalculics at various levels of education; relationship of dyscalculia with other learning disabilities; comparison of dyscalculics and normal children; and strategies to overcome dyscalculia. Compared with other learning disabilities like dyslexia. Only few studies have been done on dyscalculia and ways to overcome it. It is becoming imperative for researchers to carry out more intensive studies on this area to meet the needs of this category of students who need special attention.

The problems of dyscalculia need to be studied from different angles, the need to study each and every type of dyscalculic problem in quite essential. Identification of different types of dyscalculics in different stages of education namely primary, secondary and college level needs to be done, dyscalculics clearly require help to learn normally through early recognize and specialized approaches to teaching, it is essential for researcher to carry out investigations on new technologies that may be most appropriately used to facilitate learning.

References :

1. Reddy, G. Lokanadha., Kumar,R., Kusuma, A. (2000). Learning Disabilities: A practice guide to practitioners. Discovery publishing house: New Delhi
2. Thapa, Komilla. (2008). Perspectives on learning disabilities in India: current practices and prospects. Sage publication.
3. Martin, C. Lucy. (2009). Strategies for teaching students with learning disabilities. Corwin press.
4. www.bdadyslexia.org.uk/about-dyslexia/schools-colleges-and-universities/dyscalculia.html
5. [En.wikipedia.org/wiki/dyscalculia](http://en.wikipedia.org/wiki/dyscalculia)
6. www.ncld.org/types-learning-disabilities/dyscalculia.

Relation of Parental Encouragement with The Attitude of Higher Secondary Students

Hemlata Dhama

Dept. of Education, SSJ Campus,
Kumaun University, Almora, Uttarakhand.(U.K)

Shodh Shree



shodhshree@gmail.com

As attitude is a basic phenomenon which remains connected with a person during his whole life span. Most attitudes are the result of either direct experience or observational learning from the environment. Attitudes are multidimensional and susceptible to change. Generally attitudes are positive or negative views of a person, for place, thinking and event etc. Newcomb says "An attitude towards a specified object at some point on a single continuum like that of a thermometer running from large negative value to a zero point becoming increasingly positive." The kind of attitude that prevails in home environment decides considerable extent of the personality traits developed by a child. Parents play a vital role in child's life they influence a child's overall development throughout the life. Even when kids grow up to be adults, they still adopt things from their parents and even now the younger generation always looks up to their older generations for advice on their own kids. Without parents we wouldn't know to grow up and raise our own kids. The emotional bondage and the intimacy between parents and their children give a sense of security to children and helps in development of a positive concept of self. In whatever way the parents encourage their children, it has a lasting effect on their way of thinking and doing as home is the person's primary environment from the time he is born until the day he dies. Rossi (1965) has defined the term parental encouragement in these words "When father and mother approve or appreciate any activity related to education or revoke any hurdle felt by the student in the process or guide him for right and wrong. This entire spectrum of activity comes within the purview of parental encouragement."

Where the home atmosphere is tensed with discord no attention is given on child's development and no encouragement or motivation is received by them throughout the time, develops emotional conflicts as he receives no encouragement and motivation. Cotton K, and Savard, W.G. (1982) reviewed 18 studies on the 'Effect of Parental Involvement in Instruction Attitude and Behaviour of Elementary and Secondary Students' found that such involvement is beneficial especially, when parents receive orientation and training for helping their children. Agarwal Kusum (1986) in her studies of 'Parental Encouragement on Educational Development at Secondary Stage' found that P.E and educational development are positively correlated. She also found that parental encouragement has pervasive influence on the educational development of children and it is regardless of gender, district, and urban, rural variations. So this way the above studies clearly depict importance of Parental Encouragement in framing the positive/negative attitude of child throughout the life span and whenever we talk about a child's life which is divided in different stages our most concern is towards 'Adolescence' which is very appropriately defined by Stanly Hall as 'the age of Strain, Stress and Storm'.

This critical age has dire need of proper guidance, motivation and especially parental encouragement to form a positive attitude or to give a proper direction to their energetic body and soul. That's why the researcher keeping this concern/view in mind attracted towards the study of 'Relation of Parental Encouragement with the Attitude of Higher Secondary Children.' He tries to study the effect of parental encouragement with the following attitudes as Attitude towards Teachers and Parents (Att-1), Attitude towards Discipline(Att-2), Attitude towards Life and Humanity(Att-3), Attitude towards Country(Att-4) & Attitude towards Religion(Att-5) in relation to parental encouragement.

Objective : The main objective of study is to find out the relation of parental encouragement with the attitude of higher secondary students..

Methodology:

A normative survey method was used to conduct the

study. First of all a random sampling method was used to collect the sample of 88 boys and 88 girls from Maharishi Vidya Mandir, Haldwani (Uttarakhand). The investigator has used the Parental Encouragement Scale developed by Dr. R.R. Sharma (1988) to measure to degree/amount of encouragement that a child receives from his parents. Another tool was SODHI'S Attitude Scale (1974) which measures one's attitude in five fields as- Attitude towards Teachers & Parents(Att-1), Attitude towards Discipline (Att-2), Attitude towards Life & Humanity (Att-3), Attitude towards Country (Att-4), Attitude towards Religion (Att-5). At last the analysis and interpretation of the data is done with the help of following parametric Statistics Mean, Standard Deviation, t-test, Percentile. The gender wise description of the statistics related with each attitude is given below in table-1.

Significance of Difference Between Means of Attitude Scores of Boys and Girls

Table No. 1

VARIABLES	GROUP MEAN	MEAN DIFFERENCE	STANDARD DEVIATION	df	t-value
Attitude towards teachers & parents (Att-1)	BOYS 44.69-53.50	-8.81	12.556	24	-0.702
	GIRLS 44.47-57.83	-11.37	12.921	25	-0.880
Attitude towards Discipline (Att-2)	BOYS 48.25-48.60	-0.35	12.409	24	-0.028
	GIRLS 46.73-48.50	-1.77	9.756	25	-0.181
Attitude towards Life & Humanity (Att-3)	BOYS 50.75-54.40	-3.65	11.930	24	-0.306
	GIRLS 59.47-64.00	-1.77	9.756	25	-0.489
Attitude towards Country (Att-4)	BOYS 50.69-77.70	-27.01	12.896	24	-2.095
	GIRLS 61.40-83.83	-22.43	11.120	25	-2.017
Attitude towards Religion (Att-5)	BOYS 58.84-50.70	8.14	13.326	24	0.611
	GIRLS 62.83-61.42	1.42	12.853	25	0.110

It may be noted by table-1 that the t value of boys attitude towards Teachers & Parents (Att-1) is -0.702 and girls is - 0.880. Similarly boy's value of Attitude towards discipline i.e. (Att-2) is -0.028 and girls is - 0.181. Boy's value of (Att-3) Attitude towards Life & Humanity is -0.306, whereas girls value of this attitude is -0.489. Boy's attitude towards country (Att-4) is -2.095 and girl's value of this attitude is - 2.017. The value of boys Attitude towards religion (Att-5) is 0.611 and girls value is 0.110. These all t-values are found insignificant at 0.05 and 0.01 levels.

Results:-

On the basis of the above analysis it may be stated that Parental Encouragement directly influence one's child and it is regardless to the gender difference. Parent's favourable encouragement timely support, care, intimacy develops positive attitude in children. This obviously implies that parents should always try to encourage their children by creating friendly atmosphere at home and outside the home. Hence it can also be said that parental encouragement effect both male and female child in the same way without any discrimination in the gender.

References:-

1. Agarwal K.A. (1987)- "Study of Effect of Parental Encouragement upon Educational Development of Students" D.Phil. theses in education Garawal University.
2. Cotton K., and Savard (1992), W.G. Parent Involvement in Instruction. K-12 research synthesis Portland.
3. Garrett Henery E. (1973) Statistics in Psychology and education Bombay, Vakil Feffer and Simans Pvt. Ltd., Page (242)
4. Kothari R.C. (1990) Research Methodology Second Edition Wishwa Prakashan Jaipur
5. Manual for Attitude Scale (1975) Sodhi's Attitude scale by National Psychological Corporation Agra.
6. Pande K.S. (2005) "A study Influence of Gender Difference in Perception of Parental Behaviour" Indian Educational Review Vol.41 No-2
7. Rossi L. (1965), "Transition of Parenthood Journal of Marriage & Family."
8. Sangeeta, A.J. and "Impact of Parental Education on Attitude".

Social and Realistic Conditions: A Critique of Bhabani Bhattacharya's *So Many Hungers!*

Dr. Sita Agarwal

Asst. Prof. (English)

Dr. Bhagwat Sahai Govt. College, Gwalior

Shodh Shree



shodhshree@gmail.com

Bhabani Bhattacharya is a much translated Indian English novelist writer who has won global fame. Though his literary output is scanty, just six novels and a collection of short stories, his novels have been translated into twenty six languages including forty European languages. His immense popularity, both abroad and at home is not only for his scathing condemnation of the evils in society that he and his contemporaries hated, but also for his embodiment in fiction of his buoyant optimism based on his philosophy of synthesis. His greatness lies not only in the realistic portrayal of life but also in vision of life which he conveys through it and which we all seek to enter. Most of his readers and critics have realized and maintained that Bhattacharya's whole career of artistic creation is as significant and versatile as to rank him among the most fertile talent of his age.

Bhabani Bhattacharya believes in the social character and significance of art and literature he once remarked: "I hold that a novel must have a social purpose. It must place before the reader something from the society's point of view. Art is not necessary for art's sake. Purposeless art and literature which is much in vogue does not appear to me a sound judgment." very few writers are equal in the faithful and sober depiction of the horrors, characteristics of the dying alien rule and old mode of life; very few have visited such lower depths of society and been so ruthless in tearing the mask from philistine. At the same time very few writers are able, as he is, to portray with such power the real grandeur of the peasant and the down trodden and their ability to remark the world.

Bhattacharya's *So many Hungers* move the readers with the photographic description of the tragedy of men, women and children dying in tens of thousands. The novel exposes the colonial criminality and savagery as something grossly in human and utterly inexcusable. It presents the tragedy of the innocent Kajoli family as 'the premonition and symbolic shape of devas station affecting the whole Bengal' by all this *So Many Hungers!* Definitely arouses the pity, sympathy, fear, anger, and spirit of general revulsion and agitation in the readers.

Bhattacharya's first novel, *So Many Hungers!*, is primarily devoted to man's hunger for food, though it also closely analyses man's other urges. It is a story not only about hungry people, but also about so many types of human hunger. It begins with Rahoul's hunger for a new world order founded on eternal ethical values and higher ideals. The book is made of two plots: the story of Samarendra Basu's family with a young Rahoul as the central figure; and story of a peasant family with a young girl Kajoli as the principal character.

The first story with Samarendra Basu's father, Devesh Basu, who is respectfully called Devata by everyone, and his eldest son, Rahoul deal with Indian's struggle for freedom in the early forties. The second represents in miniature, the pathetic fate of millions who suffered immeasurably from a famine, which was the result of the most heinous selfishness of profiteers and the relentless indifference of the British Government. Rahoul own unique hungers make him obvious of the ordinary hunger for food or freedom. But he is worried about the common people. He reflects:

Why could he not escape from the oppressive darkness of Bengal far into cosmic light? That was his true concern. Not the people's hunger for food of freedom, for he had his own separate hunger. His own hunger was his true concern. Why had he lost his intellectual poise?... he knows in his spirit the hungers of his people. And they were hungers, too.'

Indeed, Rahoul has a strong feeling for "all humanity", and has an insatiable "hunger for a happier life for the common man." And it is this cause in him "Wasteful unrest and unhappiness." According to him, even if war is to be won, it should be closely related to value.

The novel portrays a detailed and graphic picture of the Bengal famine of 1943 which is a heart-rending scene of starvation and death. This tragedy, in its own way, is as painful and touching as that of the partition. Innumerable men animals die of starvation; hunger actually eats them up. Hungry children cry themselves to death. Millions are uprooted. Abandoning their homes and relations with unutterable agony, they go to the big city of Calcutta just to see their hopes of a better life belied:

Stream of desperate men ventured out of their ancestral homes in search of food, hanging on the footboards of railway trains, riding on the sun-baked roofs. But the police threw up barriers. Then the men trekked the meadows and roads, ten thousand village streams flowing city wards.

Horrible scenes are commonplace things: the mother kills their own children for want of milk and food; the hungry infants are seen sucking the breast of their mothers who already died of starvation; the mothers sell their daughter; and pregnant young women like kajoli have "the breasts ripe because of the pregnant womb, yet small from famishing."

However, the two satisfy the hungers of each other for the time being- the soldier pacifies Kajoli's

fearful hunger for food, while she satiates his longstanding hunger for a sexual intercourse with a woman. Like Kajoli and others ten million peasants groan under unbearable hunger, while rice is being moved out of Bengal. There is in the novel an extremely pathetic description of such a young woman lying dead near Rahoul's house:

A young expectant mother about to make new life and denied, cart out on The street, till at last she could not bear the struggle, and with her unborn One, she was but refuse for the corpse-disposal squad.

Bhabani Bhattacharya presents the theme of hunger for food, not in fragments, but in its wholeness. He not only describes the gruesome scenes of famine in Bengal, but also delineates its physical and moral aspects in depth. Through Rahoul the novelists assesses "The deeper implications of the famine the overall effect," taking in to account its physical as well as moral aspects. Rahoul reflects on the physical side of the famine thus:

Death would claim two millions, perhaps three millions more would escape by the skin of their teeth, but they would never be strong again, especially the children and the rickety babies, who had so little succour, who had been exposed much to sun and rain? A physically shattered race would grow up in the ninety thousand villages of Bengal. That was the physical aspect of the story.

The author brings out, in detail, the inner degradation, the moral implications of human hunger for food. When hunger bites people harder, "the finer feelings began to be deadened." After going through the novel the reader knows it fully well that three factors are responsible for the Bengal famine: the nefarious profit motive of the profiteers like sir Abalabandhu, Samarendra basu and others who hoard food grains for making money and thus create artificial scarcity; World War II which causes the destruction of crops and the urgent need for food grains for the future; and the utter indifference of the British Government because of the fast spreading National movement. The last reason is quite a potent one, and showing it as the cause of the Quit India Movement.

So many Hungers! focuses on men's insatiable hunger for sex-life and money; too it is illustrated by the life of Sir Abalabandhu, the "Prince of the black market." A curious character, he is the senior director of cheap Rice, Ltd., and has spread corruption on all sides. The British Government has bestowed upon him extraordinary honors. He has achieved in full measure the twofold blessings of wealth and honor, and yet he is not satisfied with his life.

Likewise, Samarendra Bose is an embodiment of man's

unending quest for money and titles. He is one of those traders who ceaselessly accumulate wealth and buy land things. He is a vulture feeding on the sufferings of human beings. "Rich, he hungered to be still richer." He has grown astoundingly wealthy, and is also awarded the title of C.I.E. His hunger for money does not weaken even with the advent of old age, and he is always obsessed by the desire to give his children all the material pleasure of life:

His sons should have all the condensed pleasures himself had wanted in vein- he would take care of that. His first had clenched; whatever the cost, he would take care of that. That way, through his sons, he would fulfill himself.

World War II is a very favorable opportunity to mint money while countless people are suffering starvation caused by profiteers like him; he is absorbed in the vision of a bright and happy future life of his newly born grand daughter

And the litter in the house, she now in her eighth month, she would be Reared in the luxury; bejeweled like a princess, she would move proudly in Society, when of age, have a big dowry and wed an officer high up in the Imperial service.

Though he is much impressed by his noble father, Devadatta, and his worthy sons, Rahoul and Kunal, his quest for money and titles is not to cease even up to the end of his life.

So many Hungers! Portrays India's hunger for political freedom. The Indian National Movement forms an integral part of narrative. It discusses, in detail, the Quit India Movement of 1942, especially its nature and scope in Bengal. Nehru's statement during his trial in Gorakhpur prison is cyclostyled and distributes all over India. The statement concludes with a forceful remark about the country's hunger for political freedom, food and security. "...there are more powerful forces at work today than courts of law; there are elemental urges of freedom, food and security which are moving vast masses of people..." The novel ends with the brilliant remarks about freedom and its possible dawn in India in the near future.

The novel sheds light on the basic hungers which govern the lives of men and women. In this connection chapter ninth is particularly significant. It comprises a beautiful exchange of ideas between husband and wife, Kishore and Kajoli. Kishore prepares a new sari with his own hand for Kajoli who is married to him only two moons before. The two lovingly talk to each other

and express their views on the fundamental hungers of man and woman. Kishore hums a snatch of a city song expressing his believes that man always has innumerable hungers which cannot be satisfied till the end of his life:

I know, I know, beloved

Not in this life will hungers be sated

I know, I know, beloved!

Then they enter into a long serious discussion on the Subject. Kajoli states her views from the famine point of view:

"Women, wed, have no hungers left to be filled. It is so with man..." "Woman, wed has one big hunger for home no other. Little hunger make part of the big home hunger; 'they belonged to it as the spokes belongs to the cart-wheel. Woman, she has one big wheel of hunger. Man is a single spoke in the cart-wheel-nah, maybe he is axle. And..."

Hunger strike- that is, self imposed hunger is another variety of hunger delineated in the novel, Indians fighting for the freedom of the country resort to hunger strikes quite frequently under the impacts of Gandhiji, who uses it as a powerful weapon for political and other purposes. When Bengal groans under, and cries with, all pervasive starvation, the patriots, mad with the urge for freedom, resort to hunger strikes. Dadu, who is prisoner in Dehradun jail-house, launches a hunger strike. His fast unto death creates a sensation through the country because of the publicity in the newspapers. His hunger battle reinvigorates Kajoli and thousand others: "...she him in the jail - house in the grab of a convict, wielding his body's hunger like a sword, strong as ever and true and deathless"

Though like Knut Hamsun's Hunger, this novel indicates at different kinds of hungers that move men and women the world over, such as the soul's hunger for the absolute, a subject nation's hunger for freedom, a ruler's hunger for power, a greedy man's hunger for wealth and titles, debauch's hunger for cuddling girls, its main theme is hunger for food. Bhattacharya gives a very detailed, graphic and moving of this hunger and the heavy loss of human lives resulting from it. Famine shows distressing pictures of human sufferings as men have never witnessed before. Mother is unable to bear the death by starvation of their children, bury them alive. Men keenly waiting for their turn to get food, breathe their last the moment food is poured in their bowls. Destitute and dogs fight for their possession of the rich cities ten thousand rubbish heaps, in which scraps of rotting food lie, buried.

The novelist exhibits an unconscious attempt to suppress greed and selfishness and displays

Bhattacharya's affirmative belief in life. Onu's act of sharing his figs with the other boy is not to be swept aside as a minor incident blown up disproportionately large, but has to be taken in the light of his own necessities and the bleak prospect of yawning hunger that he faces. The boy had needed figs for his younger brother for whom wild roots did not suit and hence Onu's generous gift and warm words: "Everyday we'll go halves that tree has plenty left." Onu is a great fighter, and does not lose hope even amidst extremely adverse circumstances. He has inexhaustible fund of kindness, courage and hope. He seemed to be heartening himself rather than the other: "every little branch of the top I can reach with my hand." Onu hopes that the tree has plenty of figs left. Likewise the novelist believes that though at times life may appear shorn of joy hope and strength, yet in reality it is never without plenty of them.

The feelings thoughts, convictions and actions of Kajoli's mother further evince Bhabani Bhattacharya's faith in the ethical values and grandeur of life. Though all the members in her house are almost starving, she does not sell the cow, Mangala, simply because they love her dearly and grateful to her, as they have been nourished on her milk. Peasants are usually selfless and courteous and have a great respect for traditional values. Mother's act of giving away the cow Mangala and her refusal to accept money by selling Kajoli to a procuress from a brother show the people's faith in traditional values. The peasants love for tradition comes out also in the form of superstitions which are in reality uncrutinizated believes coming from the past and are usually in conflict with the new ones. It is because of superstitions that is So many Hungers! the peasants suffer from starvation but do not rise in revolt as "hunger was their fate, and expiation of the sins of past life. The peasants' hands were manacled with their antique moral tradition."

In SO many Hungers! Bhattacharya suggestively probes into the problems of existence, suffering, evil, love, passion and greed. The apparently simple story of novel evokes a sense of shame in us and awakes our conscience. It also exercises all our efforts at evasion or justification of exercises. The immoral, the unscrupulous and the evil today when every individual is protected by a carapace of an inherent duality of conscience. Bhattacharya stimulates thought and enable us to see ourselves as we are in vices, virtues and transience. He also motivates, through this novel, an inclination for restructuring human personality within the context

of a cosmopolitan value system, and herein lies the universal appeal so So Many Hungers!

The various types of hungers portrayed by Bhattacharya are still rampant in different parts of the world. People unfortunate enough to suffer the pangs of hunger even today cry, like Kajoli's husband in So Many Hungers!, "Not in this life will hungers be sated". Despite all our efforts by welfare states and world agencies, the problem of hunger has not been totally eradicated from the surface of the earth and the Malthusian menace continues unabated.

Kh. Kunjo Singh observes: "Strongly influenced by the Tagorean and Gandhian ideals and inspired by the vision of just social order, Bhattacharya wrote novels for social purpose. Indeed he portrays full blooded men and women, the peasants and down-trodden as victims of social forces, but possessing the strength of remarking their mother land into a new India. It is in this context important to reiterate that Bhattacharya was keen to bring an end to the cult of unjust social order that turned large masses of peasants and the down-trodden into the poor and hapless victims of the social forces as available under the colonial rule. He was more alert about the remarking of India; he was optimistic about a birth of a new India following Gandhi who had transfigured the image of India and turned national idealism from its futile adulation of the past of the face the reality of India as she was poor, starving and helpless, but with an untapped potential of unlimited possibilities.

References:-

1. Bhattacharya, Bhanbani, "Literature and social Reality." The Aryan Path (Vol. xxvi. No. 9 September 1955)
2. Joshi, Sudhakar, "An evening with Bhabani," (The Sunday Standard) (April 27 1969)
3. Bhabani Bhattacharya. So Many Hungers!, (Delhi, Hind kitab), 1947
4. Sharma, K.K., Bhabani Bhattacharya: His Vision and Themes (New Delhi, Abhinav publications, 1979)
5. Iyengar, K.R. Shrinivas, Indian Writing In English (Bombay: Asia publishing House, 1973)
6. Dwivedi, A.N., (ed.), studies in contemporary Indian Fiction In English, (Allahbad: Kitab Mahal, 1987)
7. Malta, Grover, Bhabani Bhattacharya as a novelist of Social Consciousness (Meerut: Shalabh Prakashan, 1991)
8. Bhabani Bhattacharya, "Literature and Social Reality", Perspectives on Bhabani Bhattacharya, ed. Ramesh K. Srivastava (Gaziabad: Vimal Prakashan, 1982)

Police Training: The Emerging Trend

Ms. Bhavana Rani

Research Scholar, Kurukshetra University Kurukshetra

Shodh Shree



shodhshree@gmail.com

The generally accepted concept of training is an amalgam of several distinct elements. In one sense it implies imparting of knowledge and facts with their interrelationships. The knowledge so imparted is often specialized and professional in nature. Effective training involves teaching of techniques which in turn require a coordinated handling of tools and appliances. Such training programmes help in developing physical faculties conducive to job performance. An artisan, an acrobat, a mechanic, an athlete, a soldier, a sailor and an airman are trained in this manner. In another sense training entails the formation of mental and physical habit patterns, which ensure emission of similar and automatic responses obtained from a given common pattern of stimuli. Such training can socialize animals for circus performances. A similar training to human beings can be useful in producing disciplined and reliable bodies of men in all walks of life.

In short it can be said that training is the process of developing and changing skills, habits, knowledge and attitudes of employees for the purpose of increasing their effectiveness in their present assignments and preparing them for future position. Thus, training is a process of developing a person's efficiency through carefully selected methods employed by competent trainers in a suitable learning climate.

Object and Scope of Training

Training should not be confined to a mere inculcation of occupational skills and knowledge. It must be set for wider goals and viewed against a broader background. Surely, it is of the highest importance that proper attention is devoted in developing the right values and attitudes during the period of training. The best objective of the training should be to instill in the new recruits a wide national outlook, a high sense of patriotic feeling and a spirit of dedication to public service.

Purpose of Training

The purpose of training is to help a trainee in developing a broad liberal outlook and perspective which public servants need for the effective discharge of their public duties. Training must also aim at broadening the mental horizons of the employees and help them to build integrity and morals by instilling right attitude in the personnel of the organization. Training should, thus, help employees in becoming service oriented so as to set the tone and quality of the organization.

Police Organization : Needs for Training

The police were expected to play the role of the benevolent protector of free people's rights and guardians of public peace and property. The fundamental rights are very precious for the survival and progress of a democratic way of life. The barriers of age old prejudices are to be removed before the police could take their right place in the life of community.

Although the change of attitudes both on the part of public and police has not been as steady as one might expect, yet a very definite trend in the right direction has been visible in the post independence era. If a right type of training system is developed to impart training to the police personnel to make them understand their new responsibilities with adequate seriousness, the task of establishing the desired police community relations can be accomplished.

While the primary object of police training is to impart a thorough knowledge of police skills and provide an insight into the tasks of the police, it can also facilitate the development of espritdecorps', which is very essential for a coherent functioning of the police organization.

The Survey Findings

In the context, it seems pertinent to mention the survey conducted and conclusions drawn by Jerome H. Skolnick, as they clearly bring out the psychological, physical, social and legal complexes which infest the policeman because of the anomalous duties and contradictory situations in which he is expected to work. His conclusions are based on the studies conducted on the American police system, but they are relevant to the Indian conditions also because of their universality. He says that three important elements, viz. Danger, authority and efficiency in police organization largely determine the personality of a policeman in his professional role. The policeman's role contains two principal variable's danger and authority, which should be interpreted in the light of constant pressure to appear efficient. The element of danger seems to make the policeman specially attentive to signs indicating a potential for violence and law breaking. As a result, the policeman is generally a suspicious person. Furthermore, the character of the policeman's work makes him less desirable as a friend, since norms of friendship may implicate others in his work. Accordingly, the element of danger isolates the policeman socially from the segment of the public which he regards as symbolically dangerous, and also from the conventional citizens with whom he normally identifies himself. The element of authority reinforces the element of danger isolating the policeman from the whole civilian world. Finally, the element of danger is natural to undermine the judicious use of authority.

The changed context

Under the modern political system the nature of police duties have undergone tremendous changes. Still there is every likelihood of many more vital changes to take place in the near future. The political,

social, economic, and technological changes have definitely led to a chain of changes of far-reaching consequences in many of the age-old traditional modes of life and attitudes. This has created a very important change in the outlook of the public towards the police as well as in the nature of the duties of a policeman.

In the dynamic society of today, apart from the changing patterns of crime and methods of operation of criminals, the modern legislation has added new and perplexing dimensions to the volume and complexity of police work, particularly in respect of control of vice. The trend of legislation in modern welfare society seems to make the police responsible for much more than prevention and detection of crime. The policeman has, thus, assumed the role of a social worker in addition to his vital work of being a symbol of liberty. In other words, as a result of parliament having made him an all purpose public servant, a policeman today is called upon to play a wide variety of roles.

Under the new working demands, policeman needs the experience of an arbitrator, social worker, lawyer and a doctor, without even being trained for anyone of them. It is highly important therefore, that he should be properly trained to be able to give advice and help to citizens and to classify various cases correctly. The welfare and democratic nature of our polity has added new dimensions to the police work not only by introducing numerous change in the quality of input, approach and methods of police performance but has also widened the scope and impact of police job by incorporating within the range of police duties a spirit of general helpfulness to the people.

The New Perspective

The police, today, are passing through an era of change, challenge and conflict. Changes in economic, political and social conditions, advancement in the field of science and technology, emergency of democratic and secular norms have imposed a heavy strain on the police. Ideas have changed and, still more, the ideas concerning political, economic and social rights and wrongs and the problems of social and legal justice, the relationship between the state and the individual, between social classes and between interested groups, have given rise to new problems which were unknown to the administrators before. The varied changes have been motivated largely by an increased sense of humanitarianism and the newly emerged concept of social justice.

The Democratic Role

A police officer, in a democracy like the one prevailing in India, has a unique position since his job is to regulate the disorderly behavior of the people who do not wish to be regulated. He performs his duty for the citizens of his country, who place great value on their constitutionally guaranteed freedom. The policeman is as much a citizen with all the rights and obligations that citizenship entails. He is also among the many connecting links, which the administration has with the people of its country. It is essential that this contact should be one of mutual trust and cooperation. No policeman can perform his duties effectively without the active cooperation of the public. The public must also realize that it is for their benefit that the police functions and hence they should extend their cooperation and friendliness to the police.

The new role, the changed context and the perspective require the development of proper attitudes and the ability to anticipate, analyse and take decision to meet the difficult situations. There must also be an awareness of the fact that the successful implementation of tasks depends on the dedication with which they are performed. The police officer must have a high degree of discernment and an in depth knowledge of society and its problems. His approach must be one of sympathy along with a deep understanding of the changing needs of society.

The Transformation

In the changed circumstances of our society a wholly law oriented force has to be transformed into one, which, while retaining a keen appreciation of its legal responsibilities to safeguard life and property, has also an understanding of the larger social issues involved in its day to day work. The implications of this are that police officers must acquire a high degree of professional competence and develop an understanding of the social purpose of their activity, a sensitivity of trends and forces at work in the environment in which they act, and the attitude in consonance with the concept of social justice with particular reference to the weaker sections of the community.

The New Priorities

It is high time, when the new training system should be viewed in a balanced perspective. The traditional and ailing training system has to be transformed to

suit the contemporary problems. The present training arrangements have to be improved upon in the light of new goals and changing role of the police. The training system has taken shape of a ritual, wherein unwilling and ill-equipped instructor performs the necessary rites of drilling and lecturing, where the development of awareness of social and political climate finds no place, where there is paucity of books and training material, where training means nothing beyond discipline, obedience and loyalty. Such an outdated, ineffective and orthodox training system is of little relevance to the present needs and therefore is required to be replaced with a realistic, ambitious, relevant and effective training system. This is possible only when new concepts, ideas and methods are introduced which may produce congeniality of training climate along with willing participation of the trainees and the trainers.

An integrated method of teaching should be adopted in all new training programmes for the development of the trainees to understand various aspects related to the totality of the situation. Accordingly, attention needs to be paid on all the aspects of problem solving rather than memorizing various sections of the texts. This will involve close cooperation between various staff members lecturing on different aspects of the same subject and will also require a relatively higher ratio of staff to trainees than is the case at present.

The effectiveness of integrated teaching can be enhanced by supplementing the lectures with concurrent field exposure and other teaching methods and by using modern teaching aids so as to ensure maximum trainee participation in the training process. Tutorial in particular, would provide a good opportunity to the instructor to help the trainees in developing proper attitudes. The new training for the police personnel has to be viewed in the perspective of a historical process, change in social institutions, given values and aspirations of a given society and, above all, the shape of things to come in future.

References :

1. J.P.S. Sirohi, *Criminology and Criminal Justice System*
2. Prof. V.N. Pranjape, *Criminology & Penology with victomology*
3. Mohamed Siddique, *Criminology & Penology*
4. James J. Mcral, *Computer based technology in police work- a benefit cost analysis of a mobile*

- digital communications system.
5. Shanker Sarolia, Indian police: Issue and perspectives
 6. Shanker Sen, Indian police Today
 7. Ashootosh Sharan, Corruption: Genesis cause and cure in Indian Perspectives
 8. Swami Parthasarathy, Corruption: Origin cause and solution
 9. Ashok Kumar Singh, Corruption in India: Nature, cause and remedy
 10. Tripti Barthwal and Amit Pandey, Corruption and Ethics

Parliamentary Committee System as a Mini-Parliament

Dr. Prem Singh

Lecturer
Humanities and Social Sciences
Laxmi Devi Institute of Engg. And Technolog, Alwar

Shodh Shree



shodhshree@gmail.com

The governance of country involves process of mutual interaction among three wings- the legislature, the executive and the judiciary of the state power. However, the legislature occupies the key position.

Parliament over the executive is the essence of parliamentary system of government. The executive is naturally made subordinate and subservient to the parliament. Parliament elected on the basis of adult suffrage can rightly claim to represent the will of the people. Thus it is the character and status of the parliament, which make democracy a popular government in true sense of the term. Thus the executive cannot escape from its accountability to the legislature.

In order to enable the mechanism of control more realistic an attuned to the circumstances of the governance, the legislature in all forms of government have employed the device of committee system. As a matter of fact, the committees have become the real workshops of the legislature. This instrument of central is so designed as to deal with the preventive aspects of legislative control over executive and also to get rid of the difficulties experienced by the legislature in exercising control through the means as discussed above. However, the committee system is not a recent innovation. It is as old as the British House of commons. The British Parliament soon after its organization realized that as deliberative body it was unable to discharge its responsibilities effectively and efficiently. The utility of committee system was realized which led to the continuous increase in the number of the committees. As a matter of fact, the House of Commons today relies more on committees for expertise scrutiny of legislation and other matters which parliament is to decide and determines. In India the history of committee system goes back to 1854 when the first legislature was established. The Committee system in the Indian parliament and the state legislatures is modeled after the British pattern. The constitution, however, raised the parliamentary committees to the dignity of the part of the formal constitutional structure.

Article 105 refers to the creation of the committees. The committees are to work in accordance with the rules of procedures adopted by the parliament. The state legislatures too follow the same procedure of setting up committees. **Article 208** grants necessary powers to them in this connection. As a matter of fact, the committee device draws its importance and utility from the fact that they enlighten the burden of the house with the tremendous increase in the functions of the legislature it cannot devote sufficient time to discuss the matters of importance in considerable detail.

Moreover, the members of the committee tend to discuss matters in non-partisan way. They also come in direct contact with the personnel engaged in running government departments. They make parliamentary control over the executive, smoothly, efficiently and expeditious. Moreover, they provide "Certain expertise to the deliberation of Parliament". The work done by the parliament in modern times is not only varied in nature, but also considerable in volume. The time at its disposal is limited. It cannot, therefore, give close consideration to all the legislative and other matters that come up before it. A good deal of its business is, therefore, translated by what are called the parliamentary committees.

The origin of committee system in India can be traced back to the constitutional reforms of 1919. The standing orders of the central legislative Assembly provided for a committee on petitions relating to bills, select committee on amendments of standing orders and select committee. There was also a provision for a public accounts committee and a joint committee on a bill. Apart from committees of the legislative assembly, members of both houses of the central legislature also served on the standing advisory committees attached to various departments of the government of India. All these committees were purely advisory in character and functioned under the control of the government with the minister-in-charge of the department acting as the chairman of the committee.

A parliamentary committee means a committee which is appointed or selected by the house or nominated by the speaker and which works under the direction of the speaker and presents its report to the house or to the speaker and the secretariat for which is provided by the Lok Sabha Secretariat.

Parliamentary Committees are of two types:

Standing committees and second Ad hoc Committees. Ad hoc committees are appointed for a specific purpose and they cease to exist when they finish the task assigned to them and submit a report. Apart from the Ad hoc committees, each house of parliament has standing committees like the business advisory committee, the committee on petition, the committee of privileges and the rules committee, etc.

Other Committees

Of special importance is yet another class of committees which act as parliaments "Watch Dogs" over the executive. These are the committees on subordinate legislation. The

committee on government, Assurances the Committee on estimates, the committee on public accounts and the committee on public undertakings and departmentally related standing committees (DRSCs). The committee on estimates, the committee on public accounts, the committee on public understandings and DRSCs play an important role in exercising a check over governmental expenditure and policy formulation.

Composition and function of the Committees.

The functions of parliament are not only varied in nature, but also considerable in volume. The time at its disposal is limited. It cannot make very detail scrutiny of all legislative and other matters that come up before it. A good deal of its business is, therefore, transacted in committees.

Both houses of parliament have a similar committee structure, with a few exceptions. The appointment, terms of office, function and procedure of conducting business are also more or less similar, and are regulated under rules made by the two houses under **Article 118 (1)** of the Constitution.

Select and Joint Committees

When a bill comes up before a house for general discussion. It is open to that house to refer it to a select committee of the house or a joint committee of the two houses. A motion has to be moved and adopted to this effect in the house in which the bills comes up for consideration. In case the motion adopted is for references of the bill to a joint committee, the decision is conveyed to the other house requesting to them to nominate members of the other house to serve on the committee. The select or joint committee consider the bill clause by clause just as the two houses. Amendments can be moved to various clauses by members of the committee. The committee can also take evidence of associations, public bodies or experts who are interested in the bill. After the bill has been considered the committee submit its report to the house. Members who do not agree with the majority report may append their minutes of dissent to the report.

Committee on estimates

The committee consists of 30 members who are elected by the Lok Sabha every year from amongst its member. A minister is not eligible for election to this committee. The term of committee is one year. The main function of the committee on estimates is to report what economics, improvements in organization, efficiency or administrative reform consistent with the policy underlying the estimates may be effected and to suggest alternative policies in order to bring about efficiency and economy in administration.

Committee on public Undertakings.

The committee on public undertaking consists of 15 members elected by Loksabha and 7 Members of Rajya Sabha are associated with it. A minister is not eligible for election to this committee. The term of the committee is one year. The function of the committee on public undertakings are

- (i) To examine the reports and accounts of public undertakings
- (ii) To examine the report if any of the Comptroller and Auditor General on the public undertakings
- (iii) Examine the autonomy and efficiency of the public undertakings .

Rules Committee

The Rules committee consists of 15 members including the speaker who is the ex-officio Chairman of the committee. The committee considers matters of procedure and conduct of business in the house and recommends any amendments or additions to the rules of procedure and conduct of business in loksabha that are considered necessary.

Committee of privileges

This privileges committee consists of 15 members nominated by the speaker. The privileges committee is to examine every question involving breach of privilege of the house or of the members of any committee thereof referred to it by the house or by the speaker.

Committee on petitions

The petitions committee consists of 15 members nominated by the speaker. A minister is not eligible to this committee. This committee is to consider representations from individuals and associations etc., on subjects which are not covered by the rules relating to petitions and gives directions for their disposal.

Committee on Public Accounts

The committee on Public Accounts consists of 15 members elected by the Lok Sabha and 7 Members of the Rajya Sabha are associated with it. A minister is not eligible for the election to this committee. The term of the committee is one year.

The main function of the committee is to ascertain whether the money granted by parliament has been spent by the government " within the scope of the demand". The appropriation accounts of the government of India and the audit reports presented by the Comptroller and Auditor General mainly from the basis for the examination of the committee.

Business Advisory Committee

The business Advisory Committee of Loksabha

consists of 15 members including the speaker who is the ex-officio chairman. The members are nominated by the speaker.

The function of the committee is to recommend the time that should be allotted for the discussion of such government legislative and other business as the speaker, in consultation with the leader of the house, may direct be referred to the committee. The committee generally meets at the beginning of each session and thereafter as and when necessary.

Committee on private members and Resolution:

This committee consists of 15 members and the Deputy Speaker is its chairman when nominated as a member of the committee. The committee is nominated by the speaker.

The main work of the committee are to allot time to private members bills and resolution, to examine private members bills to amend the constitution before their introduction in Loksabha, to examine all private members bills after they are introduced and before they are taken up for consideration the house and to classify them according to their nature.

Committee on the welfare of schedule castes and schedule tribes:

Committee consists of 20 members elected by the Loksabha and 10 members of Rajya Sabha are associated with it. The tenure of committee is one year. A minister is not eligible for election to this committee. The main function of the committee are to consider all matters concerning the welfare of the scheduled castes and scheduled tribes, falling within the purview of the union government and the union territories, to consider the reports submitted by the national commission for SC and ST.

Railway convention committee

Railway Convention Committee of Railway Convention is an ad-hoc committee. It consists 18 Members. Out of these, 12 members are from Loksabha nominated by the speaker and 06 members are from Rajya Sabha nominated by the Chairman. By convention the minister of finance and the minister of railways are members of the committee.

The main function of the committee is to review the rate of dividends payable by the railways undertaking to general revenues as well as other ancillary matters in connection with the Railway Finance Vis-à-vis the general finance and make recommendation thereon. The railway convention committee 1949 was the first committee after independence.

Committee on empowerment of women.

The committee of empowerment of women came

into being on 29th April 1997, as a consequence of identical resolutions adopted by the both houses. The committee consists of 30 members, 20 from Lok Sabha and 10 from Rajya Sabha. The term of committee is one year the committee's main work is primarily mandated with the task of reviewing and monitoring the measures taken by the union government in the direction of securing for women equality, status and dignity in all matters.

Committee on Government Assurance

This committee consists of 15 members nominated by the speakers. A minister is not eligible to this committee. While replying to question in the house or during discussion on bills, resolution, motions etc., ministers at times give assurances or undertakings either to consider a matter or to take action or to furnish the house further information later.

Committee on absence of members from the sitting of the house.

The committee consists of 15 members who hold office for one year. The committee considers all applications from members for leave of absence from the sitting of the house and examines every case where a member has been absent for a period of 60 days or more, without permission, from the sitting of the house.

Joint Committee on offices of profit

The committee consists of 15 members, 10 members are elected from Lok Sabha and 05 from Rajya Sabha. The committee is constituted for the duration of each Lok Sabha.

The main function of the committee are to examine the composition and character of the committees appointed by the central and state governments and to recommend what offices should disqualify and what offices should not disqualify a person for being chosen as, and for being a member of either house or

parliament under article 102 of the constitution.

The newly constituted departmentally related standing committee system is a path-breaking endeavour of the parliamentary surveillance over administration. With the emphasis of their functioning to concentrate on long-term plans, policies and the philosophies guiding the working of the executive, these committees will be in a very privileged position to provide necessary direction, guidance and in puts for broad policy formulation and in achievement of the long-term national perspective by the executive.

References :

1. India-2006; published by publications division Ministry of Information and Broadcasting, Government of India.
2. Preliminary Information submitted to the committee on Public undertakings under section 4 of the rules.
3. Antsy; Edger: Committees - How they work and how to work' Landon 1962
4. Barber, James: Power in committees; Chicago Rand Menally & Co. 1966
5. Institute of Constitutional and Parliamentary Studies committees Parliamentary in India New Delhi 1973.
6. Jena B.B.- Parliamentary committees in India Calcutta, 1966
7. Kumar virendra- Committees and Commissions in India, 1947-73 Vol. I B.K. Publishing House, New Delhi.
8. Lal, A.B. - The Indian parliament, Allahabad, 1966
9. More, S.S.- Practice and Procedure of Indian Parliament, Bombay 1960
10. Wheara K.C. Government by committee, Oxford 1965

History of Madhya Pradesh

Dr. Shukla Ojha

Professor

Dr. Bhagwat Sahai Govt. College, Gwalior

Shodh Shree



shodhshree@gmail.com

Madhya Pradesh is a cluster of innumerable districts and varied topographic and climatic characteristics. Housing the magnificent Vindhya mountain range, river valleys and plateau Madhya Pradesh is famous for its wonderful art, craft, music and dance. Rich in geographical varieties, the state also has a good number of important mines that has a good influence on the economy of the country. Engaged mostly in agricultural activities, the state is the homeland of many tribal races. It is in the middle of the India, sharing its border with six neighbouring states. The State of Madhya Pradesh is centrally located and is often called as the "Heart of India". The State is home to a rich cultural heritage and has practically everything; innumerable monuments, large plateau, spectacular mountain ranges, meandering rivers and miles and miles of dense forests offering a unique and exciting panorama of wildlife in sylvan surroundings. Madhya Pradesh state is made up of 48 districts, which are grouped into eight divisions: Bhopal, Chambal, Gwalior, Indore, Jabalpur, Rewa, Sagar, and Ujjain.

The art and craft of the state is unique from region to region. A long heritage of tradition continues to add a highly distinctive, individualistic touch to the crafts of Madhya Pradesh. The origin of Madhya Pradesh dates back to the Paleolithic age, when men were primitive and dwelled in caves. Bhimbetka cave paintings of the state reiterate the fact. As far as chronicling is concerned, the history of Madhya Pradesh regresses to the time of emperor Ashoka. Chandra Gupta Maurya, grandfather of Prince Ashoka, established the Mauryan Empire (321 to 185 BCE) in Northern India, including the state of Madhya Pradesh. Mauryan Empire received a setback after Ashoka's death and subsequently ebbed away into oblivion. During the rule of the Mughals, famous musician Tansen of Madhya Pradesh used to be the official singer of the Mughal Samrat Akbar's court. There are many interesting legends and folklore related to Tansen and Birbal in the court of Akbar. After the British took over the state, the state had been declared as the central province. After India gained her independence, under the provision of the state reorganization act of 1956, Madhya Pradesh was given the status of a full-fledged state with effect from 1st November 1956. During that period, the state also rose to prominence as the largest state in India. However, with the bifurcation of Chhattisgarh in 2000, the modern-day Madhya Pradesh came into being.

Madhya Pradesh's history can be broadly categorized into three distinct phases, which are mentioned below:

Ancient Age: History be it ancient or modern history tells a story of man's endeavour in this transient world. Ancient Madhya Pradesh, in fact, helps us to get a

hunch about our ancestors and how they survived in this hostile world. To begin with the ancient Madhya Pradesh, one can say that the earliest dwellings of mankind can be found in the caves of Bhimbetka. The inscriptions and drawings on the caves narrate a magnanimous story of the ancient Madhya Pradesh. Bhimbetka forms a part of the prehistoric period of Madhya Pradesh; but the ancient history of Madhya Pradesh starts with the accession of the Mauryan kings to the throne. It was in 320 BC that Chandragupta Maurya assumed control over the provision which constitutes most of the places of modern Madhya Pradesh. Another Mauryan king, Ashoka had a tremendous grip over the Malwa region. It is noteworthy that king Ashoka's wife, Vidisha also belonged to the beautiful city of Bhopal, the capital of today's Madhya Pradesh. But with the disintegration of the Mauryan empire, the administration of Madhya Pradesh passed onto the Sakas and Kushanas. The ancient Madhya Pradesh professes that the Sakas and Kushanas ruled over Madhya Pradesh for a long stretch of time - their rule continued from 3rd to 1st century BC. After the Sakas and the Kushanas came the chivalrous Satavahanas. The Satavahana Dynasty stands as a milestone in the ancient Madhya Pradesh. Ancient Madhya Pradesh has it that the Satavahanas ruled Madhya Pradesh from 1st to 3rd century AD. But, towards the end of the 4th century, Gupta Empire came into the political scenario, and defeating the Satavahanas, they established themselves as the undaunted masters of the region. Their rule continued over 150 years; but like all good stories it came to an end in the 5th century. Thus started a new era known as the medieval period making an end to the ancient Madhya Pradesh.

Medieval age: Medieval Madhya Pradesh deals with the medieval period in the history of Madhya Pradesh. Medieval history of Madhya Pradesh celebrates the kings, rulers and administrators that came to power in Madhya Pradesh after the decline of the gigantic Gupta Empire. Medieval Madhya Pradesh proves that after the death of Ashoka, his successors were weak and lacked much of the intellect that constituted the other Mauryan kings. There were a lot of pleasure loving men who showed little interest in the administration of their empire. Moreover, it can be said that the medieval Madhya Pradesh dates back to the 5th century when history was mourning over the end of a golden era in India. The Gupta kings, indeed, transformed India into a 'golden bird'. The disintegration of the Gupta Empire led to the fragmentation of Madhya Pradesh, but King Harsh of Thanesar came as a messiah to

reorganize the broken lot. Till his death in 647 AD, King Harsh worked towards the unification of this region. After King Harsha, the rise of the Rajput clan created significant epoch in the medieval Madhya Pradesh. During the succeeding years the Paramaras of Malwa and Chandelas of Bundelkhand went on an interesting expedition of constructing temples around this region. The work of art and architecture on the walls of a series of temples in Khajuraho is significant in the medieval Madhya Pradesh that dates back to a period from 950 AD to 1050 AD. But the medieval Madhya Pradesh witnessed a series of hullabaloo between the 12th and 16th centuries. During this period of the medieval Madhya Pradesh, the state saw a persisting clash between the Hindu clan and Muslim rulers, as well as the invaders.

Modern age: Modern Madhya Pradesh starts with the emergence of the Mughal emperors in the political scene of Madhya Pradesh. Modern Madhya Pradesh is a gradual culmination from medieval period to the modern era which chiefly speaks of the infiltration of the Britishers into India. As the modern history says, Madhya Pradesh was the important seat of the Mughal emperors. Books on the modern Madhya Pradesh reveal that Akbar had a strong hold over Madhya Pradesh from 1556 to 1605 AD. Till Aurangzeb's reign, the Mughal dominance over Madhya Pradesh was prominent; but with his demise, his successors failed miserably and the Marathas overtook the Mughals. The Marathas established a semi-autonomous rule between 1720 and 1760 AD. But the modern Madhya Pradesh bears witness to the influence of the Marathas in this region. With the defeat of the Marathas in the Battle of Panipat in 1761, the Maratha supremacy lost its meaning. Between the 18th and 19th centuries, in Madhya Pradesh, the British crown was expanding its domain in India; and the Anglo-Maratha War proved detrimental in this context. Further, modern Madhya Pradesh also bears reference of the state of Madhya Pradesh post Indian independence. In 1947, the former British Central Province was re-organized. Berar, Makrai and Chhattisgarh were culled from Madhya Pradesh, and were given a separate entity with Nagpur as their capital. Moreover, in 1956, the states of Madhya Bharat, Vindhya Pradesh and Bhopal were merged into Madhya Pradesh. It was till 2000 that Madhya Pradesh was the largest state in India; but owing to the Madhya Pradesh Reorganization Act, the southern part of Madhya Pradesh was carved out, and the new state of Chhattisgarh came into existence.

Madhya Pradesh is also the homeland of Kalidasa,

the famous immortal Indian poet and dramatist. The innumerable monuments, carved temples, stupas, forts and palaces on hilltops signify the aesthetic sense of the empires and kingdoms, of great warriors and builders, poets and musicians, saints and philosophers. Among the various dynasties that ruled part or all of Madhya Pradesh between the 2nd century bce and the end of the 10th century ce were the Shungas (c. 185–c. 73 bce), who ruled in eastern Malwa, the Satavahanas (1st or 3rd century bce–3rd century ce), the Shakas (2nd–4th century ce), and the Nagas (2nd–4th century ce). The whole of Madhya Pradesh lying north of the Narmada River formed part of the Gupta empire (4th–5th century ce) and was the scene of a power struggle against the nomadic Hephthalites (Hunas) and the Kalachuris, the latter of whom occupied part of Malwa but only for a brief period. Yashodharman was the Malwan king who defeated the Hephthalites in the 6th century. During the first part of the 7th century, Malwa was annexed by the emperor of northern India, Harsha (Harahavardhana). By the 10th century the Kalachuris had risen again to occupy eastern

Madhya Pradesh, including the Narmada valley; their contemporaries were the Paramaras of Dhar in what is now the western region, the Kachwahas of Gwalior in the north, and the Chandelas of Khajuraho, about 100 miles (160 km) southeast of Jhansi. Later the Tomaras ruled at Gwalior, and the tribal Gonds ruled over several districts. This was the reason Madhya Pradesh was also known as Gondwana.

References :

1. www.mpinfo.org/mpinfonew/english/factfile/history.
2. www.newkerala.com/states-of-india/madhya-pradesh
3. Historical Geography of Madhya Pradesh: From Early Records - Motilal Banarsidass
4. Madhya Pradesh Through the Ages - Shiri Ram Bakshi, S.R. Bakshi And O.P. Ralhan

Madhya Pradesh Budget: 2013-2014

Dr. Praveen Ojha

Prof. and Head

Faculty Of Commerce

Dr. Bhagwat Sahai Govt. College, Gwalior

Shodh Shree



shodhshree@gmail.com

Madhya Pradesh Budget, 2013 has managed to both surprise and disappoint. 2012-13 was one of the rare years, when the state GDP crossing Rs. 409877 crores, clocking a growth rate of 14%. The stupendous growth has been attributed to the bumper agricultural production and improved performance of the industrial and service sectors. It is a matter of pride for MP, which was previously categorized as a BIMARU state, to register a healthy economic performance. With a decadal growth rate of more than 20% (2001-2011), the state of Madhya Pradesh (MP) has shown concerted efforts in working its way out of being one of the BIMARU states in India. Accounting for 6% of the country's population and 9.4% of land area, the state has however been behind in human development which in turn has capped growth potential of the state. MP today contributes just about 3.3% to India's GDP, which appears to be a relatively small contribution given its endowments in terms of location, land area, natural resources and available human capital. This update broadly covers the current economic scenario in the state of MP along with the government's performance in terms of fiscal management; the state recently having announced its budget for 2013-14.

Budget 2013-14, presents actual accounts (A) for the year 2011-12 and revised estimates (RE) for accounts in 2012-13 along with budgeted estimates (BE) for the year 2013-14. After recording an impressive growth in GDP, MP has presented a surplus budget Rs 6420.51 crores in 2013-14. While, budget estimates for 2013-14 suggest lower growth rates of 13.9% in FY13 and 14.0% in FY14, it reflects the impact of slowdown in overall economic activity in India. This estimated growth draws strength from strong double-digit growth in all sectors, particularly the primary and tertiary sectors of the state's economy.

Over the past few years, the state Government has launched several schemes like Ladli Laxmi Yojana, Mukhya Mantri Kanyadan and Nikah Yojana or Samuhik Vivah. The allocations in the budget for these schemes are to the tune of Rs 950 Crore. Some of these positive steps of gender empowerment demonstrate strong political will for positive discrimination for women. It is also a demonstration that the state does not completely depend on centrally-sponsored schemes for the local needs. With assembly elections in the state slated later this year, the Madhya Pradesh government announced various sops for farmers including a Rs 1,700 crore power subsidy and Rs 500 crore for providing interest free loan, in a Rs 5,214 surplus budget for 2013-14.

Presenting the budgetary proposals, state Finance Minister Raghavji also announced Rs 150 per quintal above MSP as bonus on wheat for growers besides reducing the entry tax on domestic LPG. The state budget proposes an expenditure of Rs 91,946 crore for the next fiscal.

Highlights of the Madhya Pradesh Budget: 2013-14

- Total expenditure estimated for the year 2013-14 is of 91946.86 crore rupees
 - Revenue surplus estimated for the year 2013-14 is 5214.83 crore rupees
 - Fiscal Deficit estimated for the year 2013-14 is 12218.53 crore rupees
 - Total Revenue Receipts for the year 2013-14 are estimated to be 79603.47 crore rupees and the components for the Revenue Receipts are
 - (a) 33381.68 crore rupees that includes State's Own Tax Revenue
 - (b) 23693.61 crore rupees as share in Central Taxes
 - (c) 7583.39 crore rupees as State's Own Non-Tax Revenue
 - (d) 14944.79 crore rupees of Central Grants
- State's own Tax Revenue estimates are 17.91 percent higher in 2013-14 balance estimates as compared to 2012-13 (balance estimates)

Revenue Expenditure of 74388.64 crore rupees estimated for the year 2013-14, which is 10845.14

crore rupees more than 63543.50 crore rupees for the year 2012-13 (balance estimates)

Opening balance of (-) 195.33 crore rupees is estimated for the year 2013-14. Net transaction during the year is estimated to be 72.24 crore rupees. Hence, closing balance at the end of the year is estimated to be (-) 123.09 crore rupees

Plan expenditure for the year 2013-14 is estimated to be 37608.17 crore rupees as against 31473.48 crore rupees for the year 2012-13, which is an increase of 18 percent. Budget estimates in Tribal Sub-plan have increased from 6109.88 crore rupees for the year 2012-13 to 6907.15 crore rupees for the year 2013-14, which is a n increase of 13.05 percent

Budget estimates in Scheduled Caste sub plan have increased from 4241.82 crore rupees for the year 2012-13 to 4889.99 crore rupees for the year 2013-14, which is an increase of 15.28 percent increase.

Budget 2013-14 for the state with respect to its revenue and capital accounts and performance thereof –

Revenue Account Profile

Madhya Pradesh has been one of the few states in the country having a revenue surplus for nearly a decade. Continuing in this mode, the government of MP posted a revenue surplus of Rs 6,420 crore, in line with the Thirteenth Finance Commission (ThFC) roadmap for fiscal consolidation for state governments.

Capital A/c Heads	FY12 (A)	FY13 (RE)	FY14 (BE)
Capital Receipts	21,559	13,143	20,433
Internal Debt	5,718	10,028	17,578
Loans from GoI	1,033	1,465	2,281
Capital Expenditure	27,969	20,454	25,576
Capital Outlay	9,055	11,079	11,114
Repayment of Public Debt	3,150	3,500	8,017
Capital A/c deficit	6,410	7,311	5,143

Revenue A/c Heads	FY12 (A)	FY13 (RE)	FY14 (BE)
Revenue Receipts	62,604	71,729	79,603
Tax revenue	45,193	51,110	57,075
Non-tax revenue	7,483	7,517	7,583
Revenue Expenditure	52,693	65,308	74,389
Development expenditure	33,261	42,319	47,566
Non-development expenditure	16,229	18,754	22,295
Of which, interest expenses	5,300	5,951	6,519
Revenue Surplus	9,911	6,420	5,215

Capital Account Profile

The capital account of the state remains in deficit. This holds particular relevance for a growing state like Madhya Pradesh which needs to enhance its project capital expenditure. Major areas that are being targeted for development expenditure include roads, power and irrigation.

Minister Shivraj Singh Chouhan said the budget was highly disappointing and anti-farmer. Also, there was nothing in it for the youth. Union power minister Jyotiraditya Scindia told HT, "It is a pragmatic, progressive budget which is fiscally correct and inclusive in its approach on social sector schemes. MP will benefit from greater allocation on various central government schemes." Congratulating the union finance minister, leader of the Opposition in the state assembly Ajay Singh said the budget would give a boost to the economy and development.

The state machinery has failed to visualize areas for investment in the social sector or other productive sectors. It appears that the state political leadership is unable to muster courage to present a deficit budget and maximize the potential use of the untapped economic resources and enhance social sector investment. In terms of absolute figures, there is a substantial increase in funds earmarked for sectors like education (from Rs. 11890.32 crores in 2012-13 to Rs 13510.38 crores in 2013-14), and health from (Rs. 3189.23 crores in 2012-13 to 3664.59 crores in

2013-14. The expenditure on health was 0.95% of the state GDP in 2012-13 which was slashed down to 0.89 in 2013-14. On the tax front, the state is attempting to implement tax rationalisation measures to boost own-tax revenues without actually raising tax rates. Additionally, the increased contribution of secondary and services sector brings more productive units under the purview of taxation. Tax revenues for the state are budgeted to grow by nearly 13.0% in FY14.

MP will never be able to boast of a developed state status unless people in extreme poverty are supported and the disabled, old and widows in poor families are socially secured. It is shame for a resource-rich state like MP to give pension of Rs.275 to an old person and Rs 200 to a disabled person. Similarly, the primary and secondary government schools in MP are in a dire need of trained teachers. Similarly, the Scheduled Caste sub plan has been reduced from 1.47 % of GDP in 2012-13 to 1.38 % in 2013-14.

References :

1. www.skatax.wordpress.com/2013/03/.../statebudget-madhya-pradesh
2. www.indiabudget.nic.in/ub2013-14/bh/bh1.pdf
3. www.indianexpress.com
4. Hindustan Times
5. The Times of India

Green Banking: An Effective tool for Sustainable Development

Dr. Ruchi Jain

Assistant Professor, Additional HOD (Financial Studies)
ICG, The IIS University, Jaipur

Shodh Shree



shodhshree@gmail.com

Environmental issues gain greater attention, pressure is being placed on all industries, including financial services, to implement “green” initiatives. While green banking is not yet a key reason for most customers to select one financial institution over another, customer demands and greater environmental awareness and voice for sustainable development are driving a number of financial institutions to go green. We have realized, although a bit late, that development needs to be sustainable and equitable. Sustainable development denotes development that does not reduce the possibilities and choices for the future generations, at the same time ensuring continuity of economic progress for the present generation. It involves balancing economic interests with the communities' social aspirations and minimizing environmental impacts.

Sustainable development can best be achieved by allowing markets to work within an appropriate framework of cost efficient regulations and economic instruments. One of the major economic agents influencing overall industrial activity and economic growth is the financial institutions such as banking sector. Although banks are considered environment friendly and do not impact the environment greatly through their own 'internal' operations, the 'external' impact on the environment through their customers activities is substantial. The banking sector is one of the major sources of financing industrial projects such as steel, paper, cement, chemicals, fertilizers, power, textiles, etc., which cause maximum carbon emission. In a globalised economy, the industries and firms are vulnerable to stringent environmental policies, severe law suits or consumer boycotts. Since banking sector is one of the major stake holders in the Industrial sector, it can find itself faced with credit risk and liability risks. Further, environmental impact might affect the quality of assets and also rate of return of banks in the long-run. Therefore, the banking sector can play an intermediary role between economic development and environmental protection, for promoting environmentally sustainable and socially responsible investment. Thus the banks should go green and play a pro-active role to take environmental and ecological aspects as part of their lending principle, which would force industries to go for mandated investment for environmental management, use of appropriate technologies and management systems.

Green Banks: Green banking is like a normal bank, which considers all the social and environmental / ecological factors with an aim to protect the environment and conserve natural resources. It is also called as an ethical bank or a sustainable bank.

They are controlled by the same authorities but with an additional agenda toward taking care of the Earth's environment / habitats / resources. 'Green banking' refers to the banking business conducted in such areas and in such a manner that helps the overall reduction of external carbon emission and internal carbon footprint.

To aid the reduction of external carbon emission, banks should finance green technology and pollution reducing projects. Although, banking is never considered a polluting industry, the present scale of banking operations have considerably increased the carbon footprint of banks due to their massive use of energy (e.g., lighting, air conditioning, electronic/electrical equipments, IT, etc), high paper wastage, lack of green buildings, etc. Therefore, banks should adopt technology, process and products which result in substantial reduction of their carbon footprint as well as develop a sustainable business.

Green Banking is the initiative by banks to encourage environment friendly investments, to give lending priority to those industries which have already turned green or are trying to grow green and thereby help to restore the natural environment. This initiative of green banking is mutually beneficial to the banks, industries and the economy. Moreover Green banking will ensure that the asset qualities of banks are improved in future. Contrary to the belief, environmental friendly technologies make economic sense for the industries and actually lessen their financial burden as well. The polluting industries face more resistance and often forced to close down or face massive resistance from the public. This adds to their cost enormously. So adopting environmentally sustainable technologies or modes of production is no more considered as a financial burden, rather it brings new business opportunities and higher profit. Green banking optimises costs, reduces the risk, enhance banks reputations and contribute to the common good of environmental sustainability. So it serves both the commercial objective of the bank as well as its social responsibility. Our SBI in India has also gone with an operational segment of green banking.

Green banking requires a paradigmatic change in thinking about economics, business and finance. Its success would be greater if the world governments started to revise their economic paradigms from being 'monetary economics' to 'ecological economics' and begin to transform their accounting principles from purely being financial into ecological/operational energy accounting patterns.

Indian banks have a major role and responsibility in supplementing government efforts towards

substantial reduction in carbon emission. In India the concept of green banking is catching up and banks are actively looking for methods to portray themselves as a Green Bank. Going green is in fact more than just becoming environment friendly. Going green is looked upon as a way to reduce costs and mitigate risk.

Importance and relevance of Green Banking

Banks like any other business directly interact with the environment as consumers of natural resources. During their day to day business banks heavily contributes towards the carbon emission in terms of use of paper, electricity, stationary, lighting, air conditioning, electronic equipment etc. even though this is moderate compared to other carbon sensitive industries like steel, oil and gas etc. In the case of banks, the direct interface with the environment has considerably increased due to rapid growth of the banking industry. Banks affect the environment indirectly by financing intermediaries that have an external impact on the environment. They are the major source of long term funding to various industries such as cement, fertilizers, nuclear power, steel, oil and gas, paper etc. which pollute the environment heavily. Being a major source of fund provider, banks can play a crucial role in ensuring environmentally sustainable and socially responsible investments in the economy. Banks should try and reduce the increase in carbon footprint caused by them either directly and indirectly and should play a vital role in ensuring sustainable and environment friendly development.

Steps taken by Indian Banks

- Paperless initiatives

These days, almost all banks have some sort of paperless initiative. You're in good company if you already opt to get your bank statements delivered electronically, and it's a real easy step to greening your account at any bank. Electronic statements are almost always marketed as a green or eco-friendly, but they're so darn popular because they save banks a ton of money in paper and postage costs. If you can save money and reduce your carbon footprint at the same time, it's a win-win for any business. Fortunately, it works out nicely on your end too. You'll save a few trees, and you won't have to worry about your old bank statements getting eaten by the giant paper pile on your desk.

- Online banking

Most banks have an online system that let you check your balance, make payments, order checks, and lots more. Use this resource when

you can to save time, and give the ozone layer a break. Some banks have taken online banking a step further by making all banking 100% online

- **Green rewards programs**

With the passing of the Durbin Amendment, any kind of checking rewards program is hard to find, much less a green one. However, a lot of smaller banks still offer cash back programs, and some even do it with a green spin in a green manner: paying a bill online, making a recurring electronic payment, or making a debit card purchase.

- **Environmentally responsible investing**

Bank invests in a large variety of businesses, but the more green ones, the better. Although this is not always true, smaller banks are more likely to invest in green businesses, or invest locally.

Many Indian banks have started to realize the importance and they are taking up various GREEN BANKING initiative. Some of them are-

IndusInd Bank

- "Human aur Hariyali" campaign which introduced solar powered ATM's. The banks expects to save 1980 Kwh of energy annually. They are also supporting environment friendly finance programmes and providing incentives to go green.

IDIBI Bank

- Exclusive group for working on climate change and more specifically carbon credits advisory to the clients to deal with clean development mechanism (CDM), carbon credits of Kyoto protocol and voluntary emission reduction (VERs) authority.
- Entered into agreements with multilateral agencies and buyers of carbon credit like KfW Bankergruppe, Federal republic of Germany to offer complete range of CDM related services tailor made to suit the needs of the clients.

SBI

- Green home loan scheme which supports environment friendly housing projects and offer subsidy and interest rates reduction.

ICICI bank

- 50% waiver in processing fee of cars that use alternate mode of energy like electricity and CNG. Cars like Reva, LPG or CNG versions of Tata and Maruti variants.

Axis

- Facility of e-statement and for each e-statement registration by a customer, Axis bank will

donate a note book to the needy and poor.

Innovative Financial Solutions of Green Banking

Banks may formulate innovative financial solutions and re design the existing ones so as to incorporate environmental perspectives. Some areas of development could be:

- **Green financial products** - Loans with financial concessions to companies which undertake environmental friendly projects such as manufacturers of fuel efficient automobiles, solar and wind equipment etc. Banks can also introduce a 'Green Fund' to provide climate conscious customers the option of investing in environmental friendly projects. Besides introducing specific green banking products, banks can incorporate an Environmental Impact Assessment (EIA) in their project appraisal while financing any project to measure the nature and magnitude of environmental impact as well as suggest environmental risk mitigation measures.
- **Carbon credit business**- Indian banks can involve themselves in carbon credit business, wherein they can provide all the services in the area of Clean development Mechanisms (CDMs) and carbon credits including services of identification and funding of CDM projects, advisory services for registration of CDM projects and commercialization of CERs under different structures to meet the requirements of its customers, acting as an intermediary for buying certified Emission Reductions CERs on behalf of end-users or carbon funds, financing against CERs and CERs receivables, and other related banking services. As India has huge potential for carbon credit business, Indian banks can set up dedicated carbon credit cells to capture a major share of this carbon credit business.

Future of Green Banking

In future the Green banking will become the order of the day. And we expect a lot of associated green products, green services and green regulations would come into picture.

- **Recognize and reward the environment conscious financial institutions**- The Reserve Bank of India or regulatory authority will recognize and reward the environment conscious providers of green loans on an annual basis. By doing this environmentally irresponsible firms may run the risk of hurting their bottom-line as well as their image in the market.

- GRISIL - Green Rating and Information Services of India Ltd - Green rating agencies will be set up to provide green analysis of lenders and users of green loans via different ratings.
- Eco friendly Investment funds - Green mutual funds will be in markets and climate conscious customers can invest in environment friendly projects. Moreover investment in these would attract tax concessions as well.
- Green insurance - The IRDA shall come up with green insurance in which cover is provided for different kinds of environmental risks

Conclusion : Financial institutions and banks in particular have an important role to play in this context by contributing to the creation of a strong and successful low carbon economy. They should expand the use of environmental information in the credit extension and investment decisions. The endeavour will help them proactively improve their environmental performance and creating long term value for their business. In future, business with a higher carbon footprint would be seen as a riskier business and banks may keep themselves away from financing such business and would look for financing new technology solutions that capture or

reduce carbon emissions. The Green Banking is thus the order of the day and it will definitely benefit the banks, the industries and the environment as a whole.

References :

1. Jan Willem van Gelder, (2006), "Sustainable Banking in Practice: A closer look at the nominees for the 2006 Financial Times Sustainable Banking Awards", Banktrack., Profundo.
2. Jeucken, M (2001) "Sustainable Finance and Banking, The finance Sector and The Future of the Planet". London, Earthscan.
3. Starogiannis, D (2006) "What is Environmental Responsibility of Banks" UNEP FI Conference, June.
4. Thompson,-Hilary-J, (1995) "The Role of Financial Institutions in Encouraging Improved Environmental Performance" in Rogers,-Michael-D., ed. Business and the environment. New York: St. Martin's Press; London: Macmillan Press; 271-81
5. UNEP Finance Initiatives, 2002, Financial Institution Initiative Signatories.
6. http://unepfi.net/fii/signatories_country.htm
7. Stavros, Dimas (2005) Speec

Going Green: in Banking Sector

Dr Meenakshi Anand

Sr. Assistant Professor

Dept. of Financial Studies

The IIS University, Jaipur

Shodh Shree



shodhshree@gmail.com

In many cultures, green is an affirmation of life. Being green indicates growth, fruitfulness and spiritual rejuvenation. It is becoming more efficient in the operations of personal and business life. Businesses are taking advantage of new technology, tool and trends that improves their efficiency. If banks going green than they win the customers, shareholders, employees and operating cost while saving the planet too.

Going green is in fact more than just becoming environment friendly. Going green is looked upon as a way to reduce costs and mitigate risk. Green Banking refers to the initiative by banks to encourage environment friendly investments, to give lending priority to those industries which have already turned green or are trying to grow green and thereby help to restore the natural environment. This initiative of green banking is mutually beneficial to the banks, industries and the economy. Going green has impacts on the goodwill and gaining reputation, smarter performance, better power utility, Low cost and increase profitability. Banks affect the environment indirectly also by financing intermediaries that have an external impact on the environment. They are the major source of long term funding to various industries such as cement, fertilizers, nuclear power, steel, oil and gas, paper etc. which pollute the environment heavily. Being a major source of fund provider, banks can play a crucial role in ensuring environmentally sustainable and socially responsible investments in the economy. Banks should try and reduce the increase in carbon footprint caused by them either directly and indirectly and should play a vital role in ensuring sustainable and environment friendly development.

Objective of study

- To highlight the role of banks to play in transition to a low carbon economy.
- To find out the solutions that captures or reduces carbon emissions.

Research methodology

This study is explanatory. The study is based on the primary source of information collected through Interview from the executives of the various banks, as well as its based on the secondary source of information like review of other articles, annual reports, books and websites. The study highlights how the banks participate in the transition to a low carbon economy.

Need for Going Green

Banks like any other business directly interact with the environment as consumers of natural resources. During their day to day business banks heavily contributes towards the carbon emission in terms of use of paper, electricity, stationary, lighting, air conditioning, electronic equipment etc.

Even though this is moderate compared to other carbon sensitive industries like steel, oil and gas etc. In the case of banks, the direct interface with the environment has considerably increased due to rapid growth of the banking industry. In addition, if the lending decisions of the banks are not done prudently as per the environmental criteria, then it may lead to credit risk, legal risk and reputation risk..

To Avoid Credit Risk

The credit risk can happen indirectly in the case when banks lend to companies whose businesses are adversely affected due to changes in environmental regulation. The costs of meeting new environmental requirements might be enough to put some companies out of business. Credit risk arises when a bank had given advances to a real estate firm whose property value fell because of environmental issues. Moreover small and medium enterprises (SMEs) engaged in manufacturing business do not have sufficient capital to shift to clean production methods. Hence there are chances of credit risk in these loan portfolios as well in case government comes out with stringent environment regulatory rules.

To Avoid Legal Risk

Banks are at a legal risk if they themselves don't comply with the environmental regulations. But more than inadequate environmental practices followed by debtors may lead to legal risk. The banks will be at a legal risk when they take possession of a collateral property (under SARFAESI or due to loan default) which is contaminated or is a pollution causing asset. For example, a company which has taken loan may incur legal liability to clean up the contaminated site which may further lead to bankruptcy. In such a case the bank's ability to recover the loan is stalled and if the polluted site is part of the collateral security, the value of the property intended to set off default losses is also reduced. If a bank has a proactive environment management system put in place then it can reduce this risk to a great extent.

To Create Reputation

Banks should watch out from financing environmentally objectionable projects. Banks are certain to lose their reputation if they are involved in some big projects which adversely affect the environment and causes pollution. In addition if loans are advanced to industries which pollute the environment, those industries will face restriction from public and are often forced to shut down their business, thereby creating over and above the reputation risk causing credit risk as well.

So to avoid credit, Legal risk and create reputation in the market bank has started to take interest in green banking practice. And thereby avoiding the aforesaid risks involved in the banking sector. There are some key areas for going green where banks pay attention is as follow:-

Key Areas for Going Green

The Indian National Action Plan on Climate Change has become central to set the country on a low carbon development path. Last year the Indian Government approved a national trading scheme for carbon credits and energy-efficiency certificates that it claims could be worth more than 750 billion rupees (US\$15 billion) by 2015. This provides a significant opportunity for the banking sector and a proposed perform, achieve-and-trade scheme also incentives banks through partial risk guarantees for lending to energy efficient projects. Even in the absence of certainty around climate regulations and policy, there are sufficient commercial drivers for banks to be proactive in facilitating the transition to a low carbon economy by dedicating greater amounts of finance for renewable and clean energy projects. Between 2009 and 2011 UNEP estimates that a minimum of US\$750 billion is needed to finance a sustainable economic recovery by investing in the greening of five key sectors of the global economy: buildings, energy, transport, agriculture and water.

Lending to Eco Projects

Lending to those industries which have already turned green or are they are trying to grow green. Banks have financed or propose to finance under strategic plans for going green like micro watershed development & management of water resources. Promote Nursery & fodder cultivation, Promotion of organic fertilizers (green manure) & conversion of waste into organic manure. Replace harmful chemical pesticides by the natural & eco friendly pest management. And Promote renewable energy source like solar & wind.

Encourage Paper less Operations

Banks consume tons of paper in the form of loan documents, forms, and statements. This consumption represents not only an operating cost, but also a significant environmental impact. Banks large and small are addressing this reducing paper use across their operations. The most common approach to reduce paper use is to encourage customers to switch to electronic statements and correspondence. In 2010, for example, Bank of America sent more than 285 million correspondences digitally and eliminated 1,361 metric tons of envelopes through the implementation

of Deposit Image ATMs. Collectively, these initiatives averted the consumption of 6,724 tons of paper; this is the equivalent of saving 151,000 trees! Print consolidation and rationalization can result in even greater savings.

Many multi-branch businesses still rely on a local supply of printed material for purposes of turnaround time and local support. A careful review of print services often reveals document redundancies and overprinting which can be avoided through centralized print management and rationalization, saving 25-30% in print costs. The above is by no means an exhaustive list of bank operational green initiatives. Other programs which shrink footprint and costs include cloud computing, videoconferencing, reduction of corporate travel, and employee energy saving competitions, among many others. Business leaders have discovered that cost management and environmental management are increasingly convergent. Banks are starting to leverage this convergence to drive profitability.

Improvement of HR Processes

While many employees often feel it is not their responsibility to protect the environment while they are at work, the new workforce of millennial are emphasizing environmental consciousness as they chose their employers. There is also a broader opportunity to engage the workforce given that more and more people seek meaning and self-actualization in their jobs. However, HR is never going to have a truly significant impact on a business through the improvement of HR processes alone so the greater opportunity is to contribute to the green.

The executives of the bank are now in the position to modify their traditional human resources practice in to innovative human resources practices. Some initiatives taken by the human resource is mandating use of disposable paper, giving option of drinking coconut water in canteen instead of soft drinks, Switching off the air conditioners and office equipments system at lunchtime. Instead of electricity using natural daylight, Car pooling within the organization, make control on consumption of resources like paper, newspapers, pen, and photo copying that is subscribed by the organization and their disposable & decreased printing activities. Conduct a research in this field etc .In the context for going green in banking sector few banks has taken initiatives which are as follow:-

Initiatives for Going Green

In India the concept of green banking is catching up and banks are actively looking for methods to portray them as a Green Bank. Going green is in fact more

than just becoming environment friendly. Going green is looked upon as a way to reduce costs and mitigate risk.

Going Green Banks take to the initiative by banks to encourage environment friendly investments, to give lending priority to those industries which have already turned green or are trying to grow green and thereby help to restore the natural environment. This initiative of green banking is mutually beneficial to the banks, industries and the economy. Moreover Green banking will ensure that the asset qualities of banks are improved in future. Contrary to the belief, environmental friendly technologies make economic sense for the industries and actually lessen their financial burden as well. The polluting industries face more resistance and often forced to close down or face massive resistance from the public. This adds to their cost enormously. So adopting environmentally sustainable technologies or modes of production is no more considered as a financial burden, rather it brings new business opportunities and higher profit. Green banking optimizes costs, reduces the risk, enhance banks reputations and contribute to the common good of environmental sustainability. So it serves both the commercial objective of the bank as well as its social responsibility. Many Indian banks have started to realize the importance and they are taking up various Green Banking initiatives:

IndusInd Bank

"Human aur Hariyali" campaign which introduced solar powered ATM's. The banks expect to save 1980 Kwh of energy annually. They are also supporting environment friendly finance programmes and providing incentives to go green.

IDIBI Bank

- Exclusive group for working on climate change and more specifically carbon credits advisory to the clients to deal with clean development mechanism (CDM), carbon credits of Kyoto protocol and voluntary emission reduction (VERs) authority.
- Entered into agreements with multilateral agencies and buyers of carbon credit to offer complete range of CDM related services tailor made to suit the needs of the clients.

State Bank of India

- Green home loan scheme which supports environment friendly housing projects and offer subsidy and interest rates reduction.

ICICI Bank

- 50% waiver in processing fee of cars that use

alternate mode of energy like electricity and CNG. Cars like Reva, LPG or CNG versions of Tata and Maruti variants.

Axis Bank

- Facility of e-statement and for each e-statement registration by a customer, Axis bank will donate a note book to the needy and poor.

In future, business with a higher carbon footprint would be seen as a riskier business and banks may keep themselves away from financing such business and would look for financing new technology solutions that capture or reduce carbon emissions. It is strongly believed that within the foreseeable future carbon will have a price tag attached to it. And it gives banks a role to play in transition to a low carbon.

Conclusion

Being Green is a need of time. It is required not only for the protection of environment, but also for the effective operation of the Organizations. Even Banks are also encouraging their efforts to be green in their day to day work now they encourage environment friendly investments, to give lending priority to those industries which have already turned green or are trying to grow green and thereby help to restore the natural environment. During their day to day business banks heavily contributes towards the carbon emission in terms of use of paper, electricity, stationary, lighting, air conditioning, electronic

equipment etc. This initiative of green banking is mutually beneficial to the banks, industries and the economy.

References :

1. Sharma sidharth, Mark a.dutz”(2012) Green growth technology and innovation “report world bank economic policy department.
2. The world bank sustainable development network report (2009)”From growth to green growth a framework”
3. N Prasad (2008)” Green banking in India” pravabkar saho publication.
4. Niti Bhasin: (2007”Banking development in India 1947 to 2007” century publication Delhi
5. Archer, Eric (2006) Employment Trends: Growth in Banking Jobs, Salaries. Bell & Howell Information and Learning Company
6. Mishra S.K., Puri V.K. (2002) Economic Environment of Business, Himalaya Publishing House
7. Yusuf, A.A., and B. Resosudarmo, (2007) on the distributive effect of carbon tax in developing countries: the case of Indonesia, Working Paper in Economics and Development Studies, Padjadjaran University.
8. Zenghelis. D (2011). A macroeconomic plan for a green recovery, Policy paper, Grantham Research Institute on Climate Change and the Environment.

Organizational Behaviour: A Conceptual Review

Dr. Om Prakash Sharma

Lecturer in Bus. Admn.

Govt. Bangur P.G. College, Deedwana

Shodh Shree



shodhshree@gmail.com

Organizations consist of group of performing people who act with resources to attain particular goals for which management provides them suitable and cohesive atmosphere. In the past, it was the practice of managers that they spent most of their time in re-structuring the organizations to improve productivity, competitiveness, capacity enhancement etc. Now a days, structuring (developing) the person at work is the need of the hour for industrial world as organizations are the social systems to achieve the desired goals through human efforts with group activities. Organizations are mainly based on work structure, work relation, technology and human behaviour. Human behaviour is the most important element of organizations. Therefore, Mc Cormack said, "How to deal with people".

To understand the human behaviour is the most important task in any organization. Persons at work are basically human beings and if we want to make them perform, we have to understand their feelings, desires, attitude, aptitude and state of mind. The behaviour of employee in an organization is like an atom which consists of unrevealed and unlimited strengths. Hence, a manager cannot move towards organizational effectiveness without knowing the behaviour of the employees. It is rightly said that where there is organization, understanding the organizational behaviour is the need of the managers.

Meaning of Organizational Behaviour:

Organizational Behaviour is the study of 'Human Behaviour' in organizations. In other words, organizations are the synonymous of personal relations and work behaviour. Usually, there are three types of human behaviour in an organization-

1. Intrapersonal Behaviour
2. Interpersonal Behaviour
3. Organizational Behaviour

Hence, Organizational Behaviour is the observation and study of above three types of human behaviour and their impact on organization together with internal and external environment.

John Newstrom and Keith Davis states "Organizational Behaviour is the study and application of knowledge about how people as individual and as groups act with organizations. It strives to identify ways in which people can act more effectively".

- In the same way Fred Luthans observed that organizational behaviour indirectly concerned with the understanding, prediction and control of human behaviour in Organizations. In the other words Organizational Behaviour is the study of Organizational components and their impacts on human behaviour and organizational performances. Such study can be benefitted from various behavioral and social sciences. It is a human tool for human benefit. From the above statements we can analyze that
- Organizational Behaviour is the study of Human Behaviour.
- It is the study of individuals, groups and organization in the light of their interacting and mutual impacts.
- The objective of the study of Organizational Behaviour is to enhance Organizational effectiveness and performance.

Basic Elements in organizational Behaviour

The structure of Organizational Behaviour is based on five important elements. When people work together, the existence of structure is required and for better performance, technology is also needed. Persons are interlinked with group relations. They affect the environment and environment affects them. These elements are described as under:-

1. **Individuals-** Individual built internal social structure of an organization and organizations are formed to fulfil the needs of these individuals. They differ with each other in terms of skills, learning, motives and instincts. Therefore, their performance and behaviour level also differs.
2. **Groups-** The second element of Organizational Behaviour is group and group activities. Group consists of individuals and may be small or large having the tendency of change. The activities of groups take place through communication, decisions, power and leadership. These may be informal also and affects the Organizational activities.
3. **Tasks and Technology-** Individual, task and technology are intensively linked with each other. Managers are expected to keep in mind the reactions of individuals about work technology and themselves. There is a great impact of economic resources and work methods on work relations. The right technology assists in work performance but the complex one enhances physical and mental cost.

4. **Organization Design-** It defines the work relations by determining the rights and responsibilities of working force. Effective Organization design better control and co-ordinates the work performance and work behaviour of the employees.
5. **Environment-** Organizations work in so many different types of environment prevailing in society. An organization continuously interacts with internal and external environment. Environment affects the aptitude and work styles of the individuals. So, environment factors should be studied while studying the human behaviour.

Scope of Organizational Behaviour

Scholars are not unanimous on the matter of scope of Organizational Behaviour. The scope of Organizational Behaviour consists the study of several aspects of behaviour and there empirical studies. According to Robbins, in the scope of Organizational Behaviour, we study and practice the following:-

- Motivation
 - Leadership
 - Authority
 - Interpersonal communication
 - Group process and Organizational structure
 - Aptitude development
 - Conflict or dispute
 - Task structure
 - Work Pressure
- Likewise, Keith Devis states the following aspects regarding the scope of Organizational Behaviour-
- Leadership and Supervision
 - Employees participation
 - Group Dynamics
 - Organizational development and training
 - Management of change
 - Technology and men
 - Quality of working life
 - Role of men in Organization
 - Formal Organization
 - Working methods of trade unions
 - Equal job opportunities
 - Pressures and advices
 - Monetary incentive methods

In light of the above aspects, Fred Luthans has further narrated the study and analysis of following aspects in connection with the scope of Organizational Behaviour:-

- Personality
- Organizational culture
- Learning
- Attitude and job satisfaction
- Work pressure
- Motivation
- Acquiring knowledge
- Behaviour improvement
- Formal and informal groups
- Interactive Behaviour
- Authority and politics
- Communication
- Decision and control
- Organization's principles and structure
- Organizational development and management change

Hence, in the rapidly changing industrial world the concept of Organizational Behaviour covers the study of many aspects of human resource.

Why study Organizational Behaviour

Each and every organization achieves its goals and work performance through individuals. Individual strives through self or group to perform with work technology. So, the management of Organizational Behaviour is needed. A deep study is required in this regard for following reasons-

- Understanding human behaviour
- To understand the dynamics of behaviour
- Predicating human behaviour
- To understand group dynamics
- Basis for Human Resource Management
- Helpful in improving "People Skills"
- Adapting organization to change
- Controlling and directing behaviour
- Way to consumer behaviour
- Higher productivity and better results
- Success of the organization

Critical Review of Organizational Behaviour

Though Organizational Behaviour is widely accepted concept as it affects the psychology of employees on work place for the better performance, yet some shortcomings are there as under:-

1. Organizational Behaviour is largely a theoretical subject it does not stress on practices. It is observed that the persons who are behaviorists always prove unsuccessful in their family life.
2. It is said that Organizational Behaviour brings dual-character in management. Managers always talk for idealism but in practice they are of dual character. They emphasize on bringing changes in employees behaviour and attitude without changing themselves in the same manner.
3. The concept of Organizational Behaviour is descriptive in nature. It does not suggest any solution or direction to solve the problems. It only depicts the problems. It only describes the undesirable behaviour but does not suggest the preventive measures for its reoccurrence.
4. It is found that the more we thrust upon Organizational Behaviour the less the employees accept it. Moreover, some reactions and opposite result occurs. The over appraisal of employees behaviour brings distress and arrogance amongst them.
5. Organizational Behaviour is the perception developed by capitalist to safe guard their interests.
6. Still, little research has been conducted in the field of Organizational Behaviour. So, the study and use relating to this field is not yet standardized. Hence, the conclusions of this field are not very much authentic.
7. Organizational Behaviour improves the level of performance capacity of employees but it is not easy to ascertain the level of performance of human behaviour itself.

Conclusion

In spite of the limitations mentioned above the contribution of Organizational Behaviour will remain significant in times to come as it is the greatest device for the analysis of human behaviour. It is that human method which makes the organizations more effective by unearthing the disguised potentialities of mankind.

References :

1. William B, Werther and Keith Davis, Human Resources and Personnel Management.
2. William P, Anthony, Strategic Human Resource

Management.

3. Fred Luthans: Organizational Behaviour
4. Feldman and Arnold; Managing Individuals and Group Behaviour in Organizations
5. Frerich and Cecill Bell, Organization Development.

Origin of Information and Types

Kumkum Rajawat

Librarian

Maharaj Vinayak Global University, Jaipur

Shodh Shree



shodhshree@gmail.com

There is probably not a single person on earth who does not know what it is and what it can do to one's life- or rather how the presence or absence of information affects life. Information is universal-it is known to all men in all languages, there may or may not be a precise or apt world in a language to describe the term 'Information' but surely it is there. It is part of every part of our lives. We receive information throughout the day. When we awake the radio and newspapers give us information about what went on while we slept. The milkman, the grocer, the maid and others also provide us with different types of information. At the workplace, we receive and give information from and to our seniors, our peers and our subordinates. We call up family, friends and acquaintances to gather information on a variety of matters ranging from the weather forecast for the next twenty four hours to the best brand of washing machine available in the market; from the progress of a cricket match to the price of an air ticket to Goa. We visit the library and scan journals for information that would help us complete an assignment. In short there is no area of life that information does not touch.¹

Information is regarded as an important resource for all human activities.

The right information from the right source, to the right user at right time is everybody's right. Information is the product of human brain in action. The simple meaning of information is knowledge, intelligence, facts or data, which can be used, transferred or communicated. Information is the result of experience, observation, interaction and reading.

Information: Meaning & Definition

The simple meaning of information, in a restricted sense, is sensible statement, opinion, fact, concept of idea or an association of statements, opinions or ideas. Information is meaningful data used for decision making. Information means - knowledge communicated or received concerning a particular fact or circumstance; it can also be considered as knowledge gained through study, communication, research, instruction, etc. The term information is defined in Webster's New International Dictionary as the communication or reception of knowledge or intelligence.

•Some attempt at defining the term 'information' are:-

•According to **Shannon and Weaver** "Information is any stimulus that reduces uncertainty."²

•According to **Ching-Chih Chen and Peter Hemon** Define information as, "all knowledge, ideas, facts, data, and imaginative works of mind which are communicated formally and/ or informally in any format."³

• According to Fritz Machlup information is acquired by being told while knowledge is acquired by thinking.⁴

• According to Shera, information, both in the sense it is used by the biologists and in the sense librarians use it, is a fact. It is similar to that we receive through our senses. It may be an isolated fact or a whole cluster of facts; but it is still a unit; it is a unit of thought.⁵

• According to Prof. Bhattacharya Information is a message conveyed or intended to be conveyed by a systematized body of ideas. A comprehensive definition of the word 'information' is not possible due to its amorphous, complex and multifarious nature.⁶

Information: Concepts

Mc Creadic⁷, and Rice summarize the concepts of information as given below:

1. Information as representation of Knowledge:

Knowledge is information for which the decision making is deferred, possibly to distant time, and where the possible decision makers are drawn from a very large population base.

2. Information as Data in the Environment:

Data is a representation of facts, concepts or instructions in formalized manner suitable for communications, interpretations or processing by human or automatic means. It is generally kept in files of records and the set of relative files of records is termed as database.

3. Information as a part of the Communication Process:

Information is a message communicated by a communicator to a receiver. Information is also the product of human brain in action. It may be abstract or concrete. When a person begins to think, a variety of images and sensations flash through his mind, which makes some information to accumulate in the mind, and his memory retains these pieces of knowledge.

4. Information as a Resource Commodity:

Obviously, all other things remaining equal (namely resources, competence, opportunity, knowledge, etc.), it is information that makes one human being advance more than his counterpart. Though information is a very important resource, it

can be treated at par with other resources such as Men, Materials, Machinery, and Money.

The principal reasons (for this) are:

1. Information provokes one up man ship.
2. Information is volatile.
3. All Information is not public.
4. It is difficult to price information products and services.
5. Management of information is rather complex.

Origin of Information

This information that is so vital to human life, where does it come from? An in depth study of how information is generated would be a difficult task, but it can safely be concluded that research is one of the better known areas where information takes root. Most of what we know today is a result of research. The work of experts in the fields of science, technology, social science and the humanities continue to give birth to information that is beneficial to the whole society. The government, understanding the major role that R&D plays, also continues to pour funds into these fields as a result of which more and more information is generated- so much so that the world is being bombarded with information leading to the phenomenon termed 'information explosion.' When governmental and non- governmental organizations perform their routine duties, they are also generating information whether or not they are aware of the fact.

Business and industrial information is generated by the activities of business and industrial organizations. Social and political information is made available to us through the recordings of the people (historians, critics, Political commentators etc.) who lived in different ages or eras.⁸

Nature of Information

Mc. Garry summarizes varied attributes to see the nature of information:

1. Information can be regarded as a near synonym of fact.
2. It has a transforming or reinforcing effect on what is known, or believed to be known, by a human being.
3. Information is used as an aid to decision-making.
4. Information is the freedom of choice one has in selecting a message.
5. Information is a necessary piece of something when we are faced with a choice; the amount

required depends upon the complexity of decision to be made.

6. Information is raw material from which knowledge is derived.
7. Information is exchanged with outer world, not merely received.
8. Information can be defined in terms of its effect on the recipient⁹

Properties of Information

1. Information is not consumed in its use.
2. It can be shared by many and can be used simultaneously without any loss to anyone
3. It is the most democratic resource in that it can be consumed by poor and rich alike depending upon the intake capacity
4. Information is dynamic, ever growing and continuing and no final word is said or will ever be said on any aspect of it¹⁰.

Uses of Information

1. Information as process- When someone is informed, what they know is changed. The information process has been explained by the **Oxford English Dictionary** "as "the act of informing; communication of the knowledge or 'news' of some fact or occurrence; the action of telling or fact of being told of something."

2. Information as knowledge- Information is also used to denote the "knowledge communicated concerning some particular fact, subject or event; that of which one is apprised or told; intelligence, news."¹¹

3. Information as thing- The term 'information' is also used attributively for objects, such as data and documents.¹²

Types of Information:

Information can be categorized on the basis of the nature of its use and purpose for which it is used.¹⁴

J.H. Shera has categorized information into six types. They are

1. Conceptual information
2. Empirical information
3. Procedural information
4. Stimulatory information
5. Policy information
6. Directive information

Principles and Characteristics of Information:

The ideas underlined in the five laws of Library Science enunciated by Dr. S.R. Ranganathan are

the basic concepts of Librarianship. Based on the analogy of five laws of Library Science.

Prof. Bhattacharya has conceived five principles of information

- i) Information is for use.
- ii) Every information user, his information.
- iii) Every piece of information its user
- iv) Save the time of the information user
- v) The universe of information is ever growing.¹⁵

Qualities of information:-

According to Rojas some of the important qualities of information are

- i) Accessibility
- ii) Comprehensiveness
- iii) Precision
- iv) Compatibility
- v) Timeliness
- vi) Clarity
- vii) Flexibility
- viii) Verifiability
- ix) Free of bias
- x) Quantifiable¹⁶

William F. William has recognized six parameters of information. They are:

- i) Quantity of information which can be measured by the number of documents, pages, words, characters, bits, drawings etc.
- ii) Content, the meaning of the information
- iii) Structure, the organization of information and its logical relationship between statements or elements
- iv) Language, the symbols, alphabets, codes and syntax with which the ideas are expressed
- v) Quality, that which characterizes the completeness, accuracy, relevance and timeliness of information and
- vi) Life, the total span of time in which value can be derived from the information.¹⁷

Information is power. Where information is concerned, there are the have and the have not. It is quite evident by now that information is vital to every individual- there is no aspect of a person's life where information is not required. Information is an important national resource. It is an indispensable raw material for right decision-making from the governmental level to the personal level. It is in fact a vital ingredient for the socioeconomic and cultural

development of any nation especially third world countries like India. It is well accepted generalization that a country, which is rich in information, is rich in the socioeconomic field. This is mainly due to lack of international co-operation and understanding in the field of information transfer, especially in the area of science and technology.

Reference :

1. Information Needs, Information Seeking Behavior and Users; Bikika Tariang laloo , ESS ESS Publications p1-
2. Shannon, C. and Weaver, W. (1949). The Mathematical Theory of Communication. University of Illinois Press, Urbana.
3. Chen, C. and Hernon, P.(1982). Information seeking: Assessing and Anticipating User Needs. Neal- Schuman, New York.
4. Machlup, F. (1983) " Semantic quirks in studies of information." In " The study of information: Interdisciplinary Messages." (F. Machlup and U. Mansfield, eds.) pp. 641-672. Wiley Interscience, New York.
5. Shera, J.H. The foundation of education for librarianship. New York: Becker and Hayes, 1998.
6. Bhattacharya, G. Information Sciences: A unified view through a systems approach. IASLIC, 1978.
7. Mc. Credie, M. & Rice, R.E. (1999). Trends in Analyzing access to information, Part-I: Cross disciplinary conceptualization of access, information processing and Management. 35(1),45-76.
8. Information: Nature, Property and Scope. Information, Communication and Society. Indira Gandhi National Open University (MLIS-01). December 1997, p.9
9. Mc.Garry, K.J. (1981). Changing context of information: An introductory analysis. London, Bingley,.
10. Information: Nature, Property and Scope. Information, Communication and Society. Indira Gandhi National Open University (MLIS-01). December 1997, p.9
11. Oxford English Dictionary 1989, Vol.7, p.944
12. Ibid
13. Ibid
14. Shera, J.H. The foundation of education for librarianship. New York: Becker and Hayes, 1998.
15. Bhattacharya, G. Information Sciences: A unified view through a systems approach. IASLIC, 1978.
16. Rojas, B.A. Information systems for the scientific management research. In. conference on selected issues in agricultural research in Latin America, Madrid 1982, ISNAR.
17. William, William F. Principles of automated information retrieval. Llinious, Business Press, 1965.

Social Networks Theory of Cyberterrorism

Prem Chand

Research Scholar

Faculty of Law, Kurukshetra University, Kurukshetra

Shodh Shree



shodhshree@gmail.com

With the advent of each new technology concerns arise about its misuse. History has seen the use of technology to illicitly appropriate funds, as a tool to aid in illegal practices, and more recently to take forms of derisory discourse in to a virtual arena. It has become widely accepted that 'hi-tech' crimes including into both social and legalistic practices. Little is known about other forms of deviance that manifest with increasingly populated online environments. One of them is social network of the cyberterrorists on internet. A social network is a theoretical construct useful in the social sciences to study relationships between individuals, groups, organizations, or even entire societies (social units, see differentiation). The term is used to describe a social structure determined by such interactions.

Cyberterrorists always tend to work alone, but sometimes they feel the need to team up their fight with others. In many cases, the now networked cyber attackers claim they are fighting a worthy cause. A few cyberterrorist groups are noticeable as being the "elite," as they have done some of the major attacks around. When cyberterrorists networks, they network with other groups through various channels of communication. This method reinforces the needs of the community of cyberterrorists without the necessity of creating a large-scale single organization, like a massive conventional terrorist organization. So, cyberterrorists have become involved in Internet social networks. Some cyberterrorist groups like to act as cyber surrogate groups in order to help other cyberterrorists - who are really in need of help (i.e., regarding the design of certain malicious software programs, etc.)- increase their chances of striking the right node or hub in the Internet or computer network. This has been proved easy and advantageous.

Social Network Theory

This research paper is an extensive analysis of social network theory, the study of the connections between individuals or organizations, forming what we call "social networks." Social network theory views social relationships in terms of nodes and ties. Nodes are the individual actors within the networks, and ties are the relationships between the actors. There can be many kinds of ties between the nodes. In its most simple form, a social network is a map of all of the relevant ties between the nodes being studied. The network can also be used to determine the social capital of individual actors. These concepts are often displayed in a social network diagram, where nodes are the points and ties are the lines. A "social network can be defined as a set of nodes or actors (persons or organizations) linked by social relationships or ties of a specified type. A tie or relation between two actors has both strength and content".

The study of social networks is important because it helps us better understand how and why cyberterrorists interact with each other through networks, and how the design of the network itself, especially in this day and age where technology plays a central role, can alter their interactions. The Internet is composed of an extremely large network of nodes that link computer systems worldwide, allowing them to send and receive information. Internet is a scale-free network, which means that its nodes, the number of links on Web pages, the connection among users, and even e-mails are scale-free. A scale-free network is characterized by an uneven distribution of connectedness. While many nodes in the network are random, a few nodes act as hubs that have many connections. The danger to this is that, because the Internet is a scale-free network, it is able to survive attacks or failures of its high number of insignificant nodes (called "random" nodes), but it is very vulnerable to targeted cyber attacks against its most important nodes. The reason lies in the fact that these nodes are so powerful that they act as very connected hubs as they connect a great number of Web servers. Author discusses social network theory as applied to the Internet, to the threats to Internet and computer security, and to cyberterrorist networks.

Definition of Social Network Theory

Social network theory is the mapping and understanding of social networks. The theory has grown considerably in the new arena of advanced computing technology that has opened the door for new research. It is also a branch of social science that applies to a wide range of human organizations, from small groups of people to entire nations. As such, social network theory is the study of the connections between individuals or organizations, forming what we call "social networks." Social network theory involves relationships that explain the emergence, success, and dissolution of communication networks among individuals or organizations. The social networks paid attention because they reflect how the like minded people support each other, such as financial, political, and moral support among cyberterrorists.

In fact, all patterns of interaction can be portrayed as networks. In the same way social network theory has shown that many intriguing properties of complex systems lie in their patterns of interaction. Then, it is no surprise that social network theory is applied to society, college classes, financial markets, ecospheres, friendships, romantic liaisons, marriages, and... hacker groups. Indeed, as we will

see, networks also shape processes of terror and violence.

Social Networks?

A social network is a social structure made up of a set of social actors (such as individuals or organizations) and a complex set of the dyadic ties between these actors. The social network perspective provides a clear way of analyzing the structure of whole social entities. So, social network refers to a group of objects, entities, or people-sometimes called nodes-and the relationships between these objects, entities, or people. While defining social network Castilla et al. said, a "social network can be defined as a set of nodes or actors (persons or organizations) linked by social relationships or ties of a specified type. A tie or relation between two actors has both strength and content". Social networks can be a combination of networks within networks (as simply said, networks of networks), with numerous nodes linked in various ways, like in a spider's web. It can be one terminal, connected to the Internet, or one expert communicating with another expert in a common network devoted to a shared problem. The design of a particular network also determines its resilience, its flexibility, its capacity to expand, and its vulnerability.

Castells points out that puts it, "networks constitute the new social morphology of our societies, and the diffusion of networking logic substantially modifies the operation and outcomes in processes of production, experience, power, and culture". A network is an emergent structure that arises in a self-organizing system. Such a structure is dissipative in nature because it serves to dissipate energy in the system. The concept of "social network" has an association with industrial society. Historians also record that families, ethnic Diaspora groups, and communities around the world can all be seen as variants of social networks. Today, social networks are omnipresent. Whether they bind computers, economies, or hackers together, social networks are everywhere in the real world. In fact, the network appears to be an innovative form of organization – long after tribes, hierarchies, and markets-that comes into its own to put a new frame to society, and in so doing, the nature of conflict and cooperation.

What is required for Social Networks

As mentioned above, a network is simply a collection of connected objects or actors called nodes. If these nodes are highly connected, they act as hubs; they do not have many connections, they are random nodes. In social networks, a node is an individual communicating with other individuals for

a common purpose. In fact, according to social network theory, all humans are simply nodes in a network of rapidly expanding networks.

More importantly, nodes (as trivial and innocent as they look) in a social network can also be very powerful, for three reasons.

1. The high number of nodes in a social network makes it a non-homogeneous entity.
2. The power of a network is equal to the square of the number of nodes that it contains: an enterprise with ten nodes or intersections is not ten times stronger but a hundred times more effective than an enterprise with just one. In other words, the value of a network grows by the square of the size of the network.
3. They can take one of three different forms. Some nodes are actors, that is, people who do things and who have all kinds of skills or expertise. Other nodes are the directors-people with the highest power, or at least who do have power, and who are highly charismatic, influential, and motivating.

Now that we have a definition of social network theory as well as a description of social networks and an explanation what their nodes represent, it is worth concentrating on the origins of the theory in order to understand the current scope of the theory and why it applies particularly well to the context of cyberterrorism. The origins of social network theory are rooted in the social sciences and in systems theory.

Social Network Theory

The origins of social network theory in the social sciences and the roots of the theory are in system theory. The view about origin of social network theory is that all social relationships can and should be analyzed as social networks. In other words, they should be considered sets of actors (nodes) and ties (links) whose relationships form a pattern. Historically, social network theory became significant in the social sciences with the release of anthropologist A. R. Radcliffe-Brown's seminal article entitled "On Social Structures," and with the works of sociologists like Moreno, who have been studying social networks systematically to develop sociograms and directed graphs to chart the ties among different individuals in groups or in particular contexts (what gradually became known as a "networks").

Social network theory is among the dynamic large-scale theories of social systems that emerged from Hegel's systems theory. Georg Hegel (1770-1831)

was a German idealist philosopher who suggested a holistic approach to understanding the dynamic interrelationship of parts to a whole. Hegel's goal was to explain historical development as a dynamic process. The main core of his theory was the system rather than the individual in isolation. As such, Hegel looked at society as a set of organizational and behavioral pattern structures that a system learned to select from the complex choices presented to it without full information as to the outcome. The main premises of systems theory, then, are that a system is the sum of all its parts plus the effects of interrelation and interdependency among those parts-thus a system is more than the mere sum of its parts-that the whole determines the nature of the parts and that the parts cannot be isolated from the whole.

For the past few decades after introducing systems theory into social sciences, new terms, e.g. feedbacks and circular loops, cybernetic loops, information retrieval, and, of course, networks. Today in the age of networks of terror form a complex system of communications that has differentiated itself horizontally into a network of interconnected social subsystems. Within the framework of systems theory, it is of interest to investigate a cyberterrorist network by analyzing its key components.

Cyberterrorism and the Social Network Theory

The purpose of above discussion about the systems theory is in the fact that the complex structures and growth patterns of the Internet appear to resemble those of complex living systems, among which are the metabolic networks that operate inside cells and the social networks that constitute societies.

The Internet is composed of an extremely large network of nodes that link computer systems worldwide, allowing them to send and receive information. Scale-free networks are characterized by their centrally located, highly connected hubs, which considerably influences the way the Internet operates. The most advantageously point for the Internet to have an online extremely fast Scale-free navigation and communication. Many nodes are linked to the network by way of just one connection: fewer have two, even fewer have three, and so down the line. As opposed to an exponential network, in the Internet network, there remain small but significant numbers of nodes that have many connections.

Internet is a gigantic network of nodes that link computer systems worldwide, allowing them to exchange information. How the social network theory can be applied to the dangers posed by cyberterrorists to Internet and computer security. The Internet has many nodes, and the majority of these

nodes are so insignificant that the system will still survive if these nodes can crash. Basically, these nodes are like drops in the ocean. They are called "random" nodes. If truth be told, a very small percentage of Internet nodes are down at any given time. What this means is that the Internet can cope with up to 80% of all random node failures. Indeed, a scale-free network can absorb random node failures up to 80% of its small nodes before it dismantles. The reason for this is the non-homogeneity of the nodes on the Internet network; in many cases, failures are likely to occur on relatively small nodes. With their very connected nodes, which are statistically unlikely to fail under random conditions, connectivity in the network is maintained. It takes quite a lot of random failure before the hubs are wiped out, and only then does the network stop working.

However, a major problem is that some of these Internet nodes, although few in numbers, are not random; rather, they are so powerful that they connect a great number of Web servers. These nodes act as very connected hubs, that is, as places of convergence in the network or as central connections to all devices in the network. When cyberterrorists know how to disrupt these nodes, the Internet will essentially be broken down into isolated parts. Failure of random nodes might have extremely little impact on a scale-free network's connectivity or survival, but cyber attacks on network hubs will not only completely destroy the Internet; they will also make the Internet unusable until repaired. Cyber attacks can be terminal as cyberterrorists would mainly target the routers and servers that provide the most connections to the rest of the network. Connectivity is maintained by a few highly connected nodes, that is, hubs. The destruction of only 5-15% of these hubs will effectively disable the Internet.

In cyber attack, node failures are not random but are the result of deliberate harm, if directed at hubs, will make the Internet fail catastrophically. Eliminate the very connected nodes and the scale-free network will stop functioning. What this all boils down to saying is that with respect to cyber attacks the critical infrastructures, whether the nodes on the network are randomly distributed or are scale-free makes a huge difference. Yet, if the cyberterrorist is more than an amateur, and if he or she is armed with a map of a scale-free network, he or she could strategically focus their cyber attack(s) on the few very connected nodes. Destroying just a few of these could knock out virtually all flow of or access to information for other

Web users, which, in turn, would disintegrate the webs rapidly into isolated fragments. For this reason, protection against cyberterrorism needs to be concentrated on making key nodes or hubs invulnerable.

A full understanding about the scale-free network that makes up the Internet is fragile is vital to Internet security. The Internet is simply too vulnerable to attacks that use malicious software programs. Now, social network theory can be applied in exactly the same way to computer security. In the various countries, most nuclear, water, electric, gas, telephone, data, transportation, and distribution systems are scale-free networks just like the Internet and they rely heavily on computer systems. This also means that, in order to function, they must be very dependent on highly connected nodes or hubs. Cyber attackers already know it. For this reason, these highly connected nodes or hubs need to be protected.

Applying social network theory to the study of cyberterrorist networks is the first step to understanding the structure of their networks. While most conventional terrorist networks today tend to be scale-free networks, it is difficult to determine whether or not networks of cyberterrorists are scale-free. A Scale-free network obeys a power law distribution in the number of connections among nodes on the network. While some few nodes display extremely high connectivity (essentially scale-free), the vast majority of nodes are fairly poorly connected. From the various studies on cyberterrorism it appears that all cyberterrorists can be highly connected when they feel they need to. Cyberterrorists do not meet in the physical realm as conventional terrorists do. Yet, cyberterrorists still need a "location" where they can meet, share ideas, swap insights, exchange tools and software programs, all of which provide the means, knowledge, and motivations they need to wreak havoc against Internet and computer networks.

One can find cyberterrorists in the chat rooms to communicate with each other and many other Internet locations where they can meet. A chat room can be used as a hub by cyberterrorists; it is a central location in the Internet network that has a large number of highly connected nodes. Number of chat rooms services available to the cyberterrorists where they can communicate among each other. Some are, of course, more important than others. In these chat rooms, a cyberterrorist can simply come to know in seconds how to commit an attack and get instant feedback. This really enables the cyberterrorist not to

waste time searching what they need on the World Wide Web or through newsgroups.

It is difficult to identify and trace cyberterrorist network hubs because of the number of links alone. Hubs vary in value depending on multiple vectors such as depth of connections, frequency of contact (which may indicate that the individual is a conduit for information flow rather than a resource), and duration of links (which is tied to the importance of that individuals skill set to ongoing operations of cells that they connect to).

Conclusion

Cyberterrorism is very new kind of crime by which the terrorist can get more they can by traditional forms. As it is clear from the above discussion cyberterrorists in most of the cases prefer to work alone. At the same time, it is true they also prefer to have group or social network of the people or cyberterrorists, from where they can communicate and get information and quick feedback. So to understand social network of the cyberterrorists, the social network theory shall assist the scholars.

Reference :

1. Zepp, C., *Virtuality Community: Hackers. Sociology and the Internet*, 1999, 4(3), 1-14; Ziff, D. J. S., *Fourth Amendment limitations on the execution of computer searches conducted pursuant to a warrant. Columbia Law Review*, 2005, 105(3), 841-872.
2. McKenzie, W., *Hacker Manifesto*, 2004, Cambridge: Harvard University Press.
3. Schwartau, W., *Cyberterrorism: Protecting Your Personal Security in the Electronic Age*. New York: Thunder Mouth Press, 1996.
4. <http://www.istheory.yorku.ca/socialnetworktheory.htm>, retrieved on 6 July 2013.
5. Castilla, E., et al., *Social networks in Silicon Valley*. In C. M. Lee, W. F. Miller, M. G. Hancock, & H. S. Rowen (Eds.), *The Silicon Valley Edge*, 2000, p. 219. Stanford, CA: Stanford University Press.60
6. Dorogovtsev, S. N., & Mendes, J. F. F., *Evolution of Networks: From Biological Networks to the Internet and WWW.*, 2003, Oxford: Oxford University Press.
7. Matlis, J., *Scale-free Networks. Computer-world*, 2002, 1, 10-17.
8. Albert, R., Jeong, H., & Barabasi, A. L., *Error and Attack Tolerance of Complex Networks. Nature*, 2000, 406(27), 378-382; Ball, P., *The Missing Links. Nature*, 2000, 85(27), 20-27.
9. Degenne, A., & Forse, M., *Introducing Social Networks*. London: Sage Publications, 1999; Freeman, L. C., *Social Networks: A Beginner's Bookshelf. Social Networks*, 1981, 4(2), 6-10; Lipnack, J., & Stamps, J., *The Networking Book: People Connecting with People*. New York: Routledge and Kegan Paul, 1986; Scott, J. (1991). *Social Network Analysis: A handbook*. Thousand Oaks, CA: Sage Publications; Scott, J., *Social Network Analysis: An Introduction*. New York: Sage Publications, 2000; Wasserman, S., & Faust, K., *Social Network Analysis*. Cambridge, MA: Cambridge University Press, 1994; Wellman, B., & Berkowitz, S. D. (Eds.). *Social Structures: A Network Approach*. Cambridge, MA: Cambridge University Press, 1988.
10. Nohria, N., & Eccles, R. G. (Eds.), *Networks and organizations: Structure, Form, and Action*. Boston, MA: Harvard Business School Press, 1992.
11. Barabasi, A. L., *Linked: The New Science of Networks*. Cambridge, MA: Perseus, 2002; Buchanan, M., *Nexus: Small Worlds and the Groundbreaking Science of Networks*. New York: Norton Press, 2002; Strogatz, S. H., *SYNC: The Emerging Science of Spontaneous Order*. New York: Theia, 2003; Watts, D. J., *Networks, Dynamics, and the Small-world Phenomenon. American Journal of Sociology*, 1999a, 13(2), 493-527; Watts, D. J., *Small-worlds: The Dynamics of Networks between Order and Randomness*, Princeton, NJ: Princeton University Press, 1999b.
12. Wasserman, Stanley; Faust, Katherine, *Social Network Analysis in the Social and Behavioral Sciences, Social Network Analysis: Methods and Applications*. Cambridge University Press, 1994, pp. 1-27.
13. Castilla, E., et al., *Supra note 5*.
14. Buchanan, M., *Nexus: Small Worlds and the Groundbreaking Science of Networks*. New York: Norton Press, 2002.
15. Castells, M., *The Rise of the Network Society, The Information Age: Economy, Society, and Culture*, p. 469, Oxford: Blackwell, 1996.
16. Stengers, I., & Prigogine, I., *The End of Certainty: Time, Chaos, e New Laws of Nature*. New York: Free Press, 1997.
17. arbrough, B. V., & Yarbrough, R. M., *Governance Structures, Insider Status, and Boundary Maintenance. Journal of Biometrics*,

- 1, Y pp. 289-310, 1999.
18. Buchanan, M., *Nexus: Small Worlds and the Groundbreaking Science of Networks*. New York: Norton Press, 2002.
 19. Arquilla, J., & Ronfeldt, D. (Eds.), *Networks and Netwars: The Future of Terror, Crime, and Militancy*. Santa Monica: RAND, 2001.
 20. Johnson, G., *First Cells, then Species, Now the Web*. New York Times, p. M1, 2000.
 21. Monge, P. R., & Contractor, N. S., *Emergence of Communication Networks*. In F. M. Jablin & L. L. Putman (Eds.), *The New Handbook of Organizational Communication: Advances in Theory, Research, and Methods*, pp. 440-502, 2001; Monge, P. R., & Contractor, N. S., *Theories of Communication Networks*. New York: Oxford University Press, 2003.
 22. Metcalfe, R., *Computer/Network Interface Design: Lessons from Arpanet and Ethernet*. *IEEE Journal on Selected Areas in Communications*, 1993, 11(2), 173-180.
 23. Radcliffe-Brown, A. R., *On Social Structure*. *Journal of the Royal Anthropological Institute*, 70, pp. 1-12.
 24. Moreno, J. L., *Who Shall Survive? Foundations of Sociometry, Group Psychotherapy, and Sociodrama*. Washington, DC: Nervous and Mental Disease Publishing Company, 1934.
 25. Beiser, F. C., *The Cambridge Companion to Hegel*. Cambridge, MA: Cambridge University Press, 1993; Kojève, A., *Introduction to the Reading of Hegel*. New York: Basic Books, 1969.
 26. Beiser, F. C., *Ibid.*
 27. Albert, R. et al., *Supra note 8.*
 28. Dorogovtsev, S. N., et al. *Supra note 6.*
 29. *Ibid.*
 30. Albert, R. et al., *Supra note 8.*
 31. Dorogovtsev, S. N., et al. *Supra note 6.*
 32. Albert, R. et al., *Supra note 8.*
 33. Faloutsos, M., Faloutsos, P., & Faloutsos, C. (1999). *On power-law relationships of the internet topology*. *The ACM Computer Communication Review*, 29, 251-262; *Supra note 7.*
 34. Ball, *Supra note 8.*
 35. *Ibid.*
 36. Matlis, J., *Supra note 7.*
 37. Ball, *Supra note 8.*
 38. Robb, J., *Scale-free Networks and Terrorism*, 2004, www.globalguerrillas.typepad.com.
 39. Zepp, C., *Supra 1.*
 40. *Ibid.*



Shodh Shree

(Journal of Multidisciplinary Research)

54A, Jawahar Nagar Colony, Tonk Road, Jaipur-302018

shodhshree@gmail.com

Chief Editor - Virendra Sharma

Editor - Dr. Ravindra Tailor

Membership No.....

Date.....

(For Office Use Only)

Subscription Form

Name Prof./Dr./Ms./Mr. Designation

Name of Organization

Mailing Address

District State

Tel. No (Res.) Mobile No.

E-mail Address

Subscription fee can be deposit through online Banking.

Date

Signature

-
1. Required Font For Resaech Paper - Kruti Dev-010 (For Hindi) or, Times New Roman (For English)
 2. Subscription Fees 1200 Rs (For Individual and Institution)
 3. Research Paper may be Sent through By email, post or C.D.
 4. For any assistance, please contact - 09413224134

DECLARATION FORM FOR CONTRIBUTORS

I
hereby declared that the paper entitled '.....'
.....' is unpublished original paper which is not sent any where for
publication.

This paper is prepared by me/jointly with
..... which is exclusively for your Journal
entitle 'Shodh Shree'.

I/We will not demand any honorarium for the same except one copy of the
Journal in which this paper will appear. Please send copy of the Journal at the address
of author whose name is appeared at first.

Copy right of matter is with Shodh Shree. I/We will not reproduce it in any other
Journal or book except prior permission of the Chief Editor.

Signature

Name

Designation

Official Address

Residential Address

Phone No.

E-mail Address

Guidelines for the Contributors

1. All research paper must be typed in pagemaker and use KRUTI DEV 010 font for Hindi or Times New Roman font for English can submit by C.D. or through e-mail.
2. A separate list of references should be given at the end of the paper and not at each page. Footnotes may be given on the same page if any technical term needs some explanation.
3. Table, Model, Graph or Chart should be on separate pages and numbered serially with appropriate headings.
4. Maximum word limit of research paper up to 1500 words.
5. Special care should be taken to avoid spelling errors and grammatical mistakes in the paper otherwise it will not be accepted for publication.
6. The author(s) should certify on a separate page that the manuscript is original and it is not copyrighted.
7. The copyright is Reserved for 'Shodhshree' for All Research papers and Book Reviews, published in this journal.
8. Publication of research paper would be decided by our editorial board or subject specialist.

BookReview: For Book Review to be included in this journal only reference books and research publications are considered. One copy of each such publication must be submitted to the Editor.

Note: Shodh Shree have copyright on papers published in the Journal therefore, prior permission is necessary for reproduction of paper, anywhere by author or other person. However, papers published in the Journal may be freely quoted in further study. All disputes are subject to Jaipur jurisdiction.

**Research Paper may be sent to our e-mail:shodhshree@gmail.com
For any assistance, Please Contact Dr. Ravindra Tailor-09413224134**

To,

प्रिन्टेड मैटर

If undelivered please return to :

शोध श्री (त्रैमासिक)

54-ए, जवाहर नगर कॉलोनी

टॉक रोड, जयपुर-302018

स्वात्वाधिकारी, मुद्रक, प्रकाशक, प्रधान सम्पादक – वीरेन्द्र शर्मा के लिए मुद्रित व 54-ए,
जवाहर नगर कॉलोनी, टॉक रोड, जयपुर-302018 मो. 9460124401 से प्रकाशित।
मुद्रण स्थल आकृति एड्‌वरटाईजर्स, जयपुर